

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

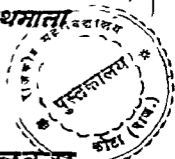
विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

७८

१९६०

॥ श्रीः ॥

१२०७५



उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

‘रमा’ हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

ज्ञा-बन्धु

० रमाकान्त झा एम० ए०

व्याकरण-वेदान्ताचार्य,

प्रधानाचार्य

महर्षि सं० महाविद्यालय

रेवडीपुर, गान्धीपुर

पं० हरिहर झा एम० ए०

व्याकरण-साहित्याचार्य,

अध्यापक

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

चतुर्थ संस्करण १९९०

मूल्य १५-००

धन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर सेन

पो० बा० न० ११२९, वाराणसी २२१००१

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ ए. ए. , जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० न० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

78

१२०७४

ॐ
Ray Kumar,
UTKIRNALEKHAPAÑCAKA

(A COLLECTION OF FIVE PILLAR INSCRIPTIONS)

With the

'Rama' Hindi Commentary 

By

JHA BANDHU

(Pt. Ramakanta Jha M. A.; Pt. Haribara Jha M. A.)

Ray Kumar


CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building,
Post Box No 1069
V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1
Telephone : 63076

4th Edition
1989

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1
Telephone : 57214

★

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
D E L H I 1 1 0 0 0 7
Telephone : 236391



जिनके विद्यामन्दिर
की

आधार-शिला

पर

बैठकर

कतिपय अभिलेख-कुसुमो

का

गुम्फन हो सका

सन्ही

पुष्यश्लोक महामना मालवीयजी

की

पावन स्मृति में

सभक्ति समर्पित

निवेदन

भारत की पुरातत्व-सामग्रियों में अभिलेखों का महत्त्व विचारणीय है। य अभिलेख प्राचीन भारत के वास्तविक स्वरूप की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इनमें अधिकतर लेख विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित हैं। एम० ए० में हम लोगों को भी कुछ अभिलेखों के अध्ययन का सौभाग्य मिला था। किन्तु उक्त समय निर्धारित अभिलेखा पर कोई पुस्तक बाजार में उपलब्ध नहीं थी, अतएव विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित श्री डी० सी० सरकार महोदय के मूल अभिलेख तथा श्री देसकालकर महोदय का अंग्रेजी अनुवाद ही हम लोगों के अध्ययन के एक मात्र अवलम्ब थे। व्यक्तिगत छात्रों के समक्ष तो यह समस्या सदा ही रही। उसी समय अपनी तथा अन्य छात्रों की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर हम लोगों ने कुछ अभिलेखों के स्वतन्त्र का निश्चय किया और चौखम्बा विद्यामन के हिन्दिच्छुक विद्वान् प० रामचन्द्र झा जी के माध्यम से वहाँ के अध्यक्ष महोदय के परामर्श के बाद इस कार्य में प्रवृत्त हुए। किन्तु बीच में ही अध्यक्ष महोदय के विशेष आग्रह से वादम्बरी (शुक्नासोपदेश) का सम्पादन भार लेना पडा। अतः इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब अवश्य हो गया। आज इस 'उत्कीर्णलेखपञ्चक' को छात्रों के कर-कर्मलों में समर्पित करते हुए हम लोग अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत 'ग्रन्थ' में अभिलेखों के हिन्दी अनुवाद के साथ ही ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्वों का सविस्तर विवेचन किया गया है। साथ ही ऐतिहासिक एवं भौगोलिक नामों पर सस्ति टिप्पणी भी दे दी गयी है। इस पुस्तक के सम्पादन में ऐतिहासिक विवेचन-प्रसंग में माननीय डा० रमाशंकर त्रिपाठी, श्री नरेन्द्र नाथ घोष तथा डा० वामुदेव उपाध्याय की पुस्तकें, एक साहित्यिक विवेचन प्रसंग में श्री देसकालकर महोदय की पुस्तक विशेष उपादेय सिद्ध हुई है। उक्त हम उन महानुभावों के प्रति कृतज्ञ ही नहीं, ननमस्तर भी हैं। साथ ही जिन सहपाठियों के बलास-नोट्स भी सहायक हुए हैं, उनके प्रति धामार प्रकट करना तो अपने को ही पक्षवाद देना है। यदि यह ग्रन्थ छात्रों का कष्टहार बन सका तो अपने दृष्टान्त-श्रम को हम लोग सफल मानेंगे। अस्तु,

विनीत—

—शा.चन्द्र

विषय-सूची

निर्देशन	१
प्रस्तावना	१-३५
१ अभिलेखों का महत्त्व	१
२. बाह्य गमन भौगोलिक दृष्टि से	२
३ नगर चर्चा	३
४ सामा निर्देश	४
५ मार्ग निर्देश	५
६. यात्रा निर्देश	६
७ अभियान मार्ग	७
८ आन्तरिक पक्ष ऐतिहासिक दृष्टि में	.
९ वंश-वृक्ष	९
१० शासन-व्यवस्था	१०
११. प्रजातन्त्र	११
१२ राजतन्त्र	१२
१३ राजकर	१३
१४. सामाजिक झलक	१४
१५ सामाजिक उत्सव तथा आवागमन	१७
१६. धार्मिक स्थिति तथा उसकी सहिष्णुता	१८
१७ आधिक स्वरूप	२०
१८. अभिलेखों में साहित्यचर्चा	२२
१९ शिक्षा-संस्था	२४
२० शिक्षा के विभिन्न विषय	२६
२१. अभिलेखों में प्रयुक्त भाषाएँ	२७
२२. विधियाँ तथा सब्द	२८



२३. अमिलेख लिखने के आधार, स्थान तथा अवसर	३०
२४. अमिलेखों का वर्गीकरण	३५
ग्रन्थ	१-७१
(१) गिरतार (जुनाड) ने सद्दामनु का प्रस्तुतामिलेख	१
अमिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व	५
अमिलेख की साहित्यिक विशेषताएँ	१३
टिप्पणी	१७
(२) महाराजचन्द्र का मेहताजीलौहस्तम्भलेख	२१
अमिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व	२२
अमिलेख का साहित्यिक महत्त्व	२६
टिप्पणी	२७
(३) कृमारगुप्त का मन्दसौर (दमपुर) शिलालेख	२९
शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व	३९
शिलालेख की साहित्यिक विशेषताएँ	४२
वर्णन में अन्य कवियों से समता	४५
टिप्पणी	४६
(४) महाराज यशोधर्मा का शिलालेख	४७
शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व	५४
अमिलेख का साहित्यिक वैशिष्ट्य	५७
टिप्पणी	६०
(५) विजयराज : बिसलदेव का देहली-स्तम्भलेख	६२
स्तम्भलेख का ऐतिहासिक महत्त्व	६४
परिशिष्ट	
शारदादेव सन्तुलविश्वविद्यालय प्रस्तुतग्रन्थ	६९

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

करबदरसदृशमखिल भुवनतल यत्प्रसादत कवय ।
पश्यन्ति सूक्ष्ममलय सा जयति सरस्वती देवी ॥

प्रस्तावना

अभिलेखों का महत्त्व :—

प्राचीन भारतीय इतिहास-निर्माण में सहायक—

भारतवर्ष संसार के प्राचीनतम एवं महानतम देशों में अग्रगण्य है। ऋषियों का यह आदेश “एतद्देशप्रभूत्वस्य सखाशादग्रजन्मनः। स्व स्व चरित्रं शिष्येभ्यः पृषिन्ना सर्वमानवाः” के गम्भीर उद्घोष से विश्व के ज्ञानगुरु पद को अलङ्कृत करता था। इस पवित्र देवभूमि के उद्बुद्ध दार्शनिकों की ज्ञान-ज्योति से सम्पूर्ण मनु-जल का अज्ञान-निमिर हट जाता था। इन देश की पवित्रता और रमणीयता पर रीस कर देवता भी यहाँ अवतीर्ण होने को ललच उठते थे। इसके ही मंगलमय प्रभाव में अन्य देशवासी अपनी अलस्यारी आँखों को खोलते थे। किन्तु सर्वप्रथम विश्व की मानवता का पाठ पढ़ाने वाला यह भारत एक दिन विश्व के क्रूर अट्टहास का लक्ष्य बना। सदियों तक भारत माँ के चरणों में विदेशी लौहशृंखला खननना लगी। जो कभी इसकी पदधूलि थे, वही शिर के ताज बन बँटे। बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यह देश आधुनिक सदाकथित सभ्य देशों की पंक्ति में निकाल दिया गया और विश्व के समस्त इसे अनाथ देश के रूप में रखा गया। हमारे देश, समाज और संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य और इतिहास लूट लिया गया। उसकी जगह मनगढ़न्न पिच्छेपत्र का सदाकथित इतिहास रच-रचा कर यहाँ की वास्तविक स्थिति पर परदा डाला गया। साथ ही पाश्चात्य मनोपियों ने यह प्रवाद भी फैलाया कि भारतवर्ष में वहाँ के जनजीवन की झंझी प्रस्तुत करने वाले इतिहास का सर्वथा अभाव है। अगर कहें कुछ है भी तो उसने विपियों तथा घटनाओं का क्रमिक और प्रामाणिक उल्लेख नहीं है। किन्तु भी देश में राजनीतिक उपल-पुपल की क्षमबद्ध विपियों और घटनाओं के सूचीमात्र को ही इतिहास को सजा देने वाले आधुनिक ऐतिहासिक यह झूठ दये कि भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य विपियों और घटना-चक्रों का उल्लेख मात्र नहीं, अन्तु मानव-जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महानुरुपों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक अन्तुदय में अमूर्त योगदान

देना भी था। हमारे यहाँ इस उद्देश्य के प्रतिस्वरूप पुराण, रामायण वर महाभारत सच्चे इतिहास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सभी दिन एक से नहीं होते। उत्थान और पतन तो विश्व का अनिवार्य ऋण है। बहुत दिनों तक परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी मानवता जब चीख उठी तो सपूतों का माया ठनका और ऊया की पहली किरण के साथ ही हमें उद्बोधन मिला। ईश्वरीय अनुकम्पा तथा राष्ट्रपिता के अहिंसा-बल ने विजयपतागा पहरायी।

स्वतन्त्र भारत में परतन्त्रकालीन मिथ्यारोपो का खण्डन आवश्यक प्रतीत हुआ और अपनी भूली सांस्कृतिक-परम्परा का अन्वेषण तथा मूल्यांकन होने लगा। इसी प्रसंग में विदेशियों द्वारा कल्पित इतिहास का पर्दाफाश कर सच्चे राष्ट्रीय इतिहास-निर्माण की योजना बनी और उस महानतम कार्य की सफलता प्राप्ति के साधनों में इन अभिलेखों ने अपना महत्वपूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया। सदियों से मूक अभिलेखों ने अपना हृदय खोल दिया और तब पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस अक्षय-निधि से अपने इतिहास को सजाने का भगीरथ प्रयास किया। सामान्यतः इतिहास-निर्माण में जिन तत्वों की उपादेयता होती है, उनकी उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में होने लगी।

विचार करने पर स्पूल रूप से इतिहास के दो पक्ष हैं—बाह्य और आन्तरिक। इतिहास के बाह्य पक्ष से हमारा तात्पर्य किसी देश विशेष की भौगोलिक स्थिति से है और आन्तरिक पक्ष से राजव्यवस्था, शासन-प्रबन्ध, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक स्थिति से। अब देखना यह है कि इतिहास के उपयुक्त दोनों पक्षों की सामग्री जुटाने में अभिलेखों ने कहाँ तक सहायता की है? इसी दृष्टिकोण को आधार मानकर हम उनके महत्त्व का विवेचन करेंगे।

बाह्य पक्ष :—

भौगोलिक दृष्टि से :—

इतिहास-निर्माण में अपेक्षित प्राचीन भारत का भूगोल जानने के लिए पुराने अभिलेखों से पर्याप्त सहायता मिलती है। विभिन्न राजवर्गीय अभिलेखों में निर्दिष्ट नगर, सीमा, मार्ग तथा विजय-यात्रा की धर्या से भौगोलिक वातावरण की झंकी मिल जाती है। साहित्यिक एवं यात्रा सम्बन्धी ग्रन्थों से भारत के प्राचीन भूगोल का जो स्वरूप दृष्टिकोण होता है, अभिलेखों के माध्यम से उसका

समोकरण तथा वास्तविक स्थिति को एक निश्चित रेखा खिच जाती है। अभिलेखों का उपलब्धि-स्थान उस राज्य की सीमा का निर्देश करता है। भारतीय सम्राटों के विजय-प्रयाग का मार्ग प्राचीन-कालीन यातायात तथा व्यापारिक पथ विशेष का परिचय देता है। तीर्थ-यात्रा या दान के प्रसंग में किसी शासक द्वारा भ्रमण किये गये स्थान तथा दान की चर्चा करते समय नदियों तथा उनके तटवर्ती नगरों का अभिलेखाय-वर्णन भी भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता है। राजनीतिक एवं धार्मिक प्रयोजन-वश दूतों का उल्लेख करते समय प्रशस्तियों में मिथ-भ्रम प्रदेशों के नाम भी मिलते हैं। अन्य उपलब्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर भी भौगोलिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—अशोक के स्तम्भ-लेख का परिशीलन उसे चुनार का सिद्ध करता है और यह भी कि उतने बजनी स्तम्भों को मूडूर प्रदेशों में भेजने के लिए गंगा में बेटों का सहारा लिया गया होगा। इसी प्रकार अन्य स्तम्भों के विषय में भी अन्य नदी-भागों का अनुमान लगाया जाता है। इसी तरह साक्षात् नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से भी अभिलेखों के द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

नगर चर्चा :—

अभिलेखों में राजाओं की राजधानी तथा उनसे सीधा सम्बन्ध रखने वाले नगरों का उल्लेख मिलता है। कलिंग-विजय के बाद बौद्ध-धर्म-दीक्षित अशोक ने धर्म-लेखों द्वारा तोसली (वर्तमान पौली), उज्जयिनी तथा लक्षधिला प्रभृति विभिन्न प्रान्तों के कुमारों के पाम अपना सदेव भेजा था। स्वयं भी उपागत की जन्मभूमि लुम्बिनी, साधना-क्षेत्र बोध-गया और प्रचार-स्थल सारनाथ की तीर्थ-यात्रा की थी। सारनाथ स्तम्भ-लेख में सध-भेद के प्रसंग में पाटलिपुत्र की भी चर्चा आयी है। मौर्यों के उत्तराधिकारी पुष्यमित्र को अयोध्या-लेख में 'कोशल-धिप' कहा गया है। स्मरणीय है कि अयोध्या उत्तर कोशल की राजधानी थी। दक्षिण भारत के सात-बाहन नदियों के अभिलेखों में गोवधनस (नासिक) जयस्वन्धावार के रूप में उल्लिखित है। ई० सन् प्रथम शताब्दी में कृपाण-नरेश कनिष्क की राजधानी पेशावर, लक्षधिला के समीप में ही थी। उसके सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख में बनारस का प्राचीन नाम वाराणसी का उल्लेख है। शक-शासन नहपान के नासिक लेख में प्रभास, मरकच्छ, द्यपुर, गोवर्धन, घोर्षारिण तथा हद्रामद् के जूनगढ़ शिलालेख में आगरावन्नि, मुगद्द कच्छ, आनर्त आदि प्रदेशों का नाम मिलता है। अशोक के तेरहवें शिलालेख में कलिंग तथा

आन्ध्र प्रदेश का निर्देश है। गुप्तकालीन सम्राट् समुद्रगुप्त के विजय प्रसंग में प्रयाग प्रशस्ति में कोशल, पीठापुर, काशी प्रभृति स्थानों का नाम दक्षिण भारत के विजय प्रसंग में तथा समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल प्रभृति प्रदेशों के नाम सीमान्त राज्यों के रूप में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार चद्रगुप्त द्वितीय के विजित प्रान्तों में काकवाड अर्थात् प्राचीन सांची का, तथा कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर अभिलेख में लाट और दशपुर इन दो प्रधान व्यापारिक नगरों का उल्लेख है। गुप्त-नरेशों के समकालीन राजाओं के मुसानियों-शिलालेख में पुष्कर और हर्ष-वर्धन के बांसखेडा साम्रज्य में अहिच्छत्र मुक्ति का नाम आया है।

मध्ययुग में तीर्थों की विशेष चर्चा के कारण प्रयाग, वाराणसी तथा अयोध्या का नाम अपसद, कलचुरी तथा गहड़वाल दानपत्र के लेखों में तीर्थों के रूप में आया है। पाल नरेश धर्मपाल के खालिमपुर देवपाल के नालन्दा तथा नारायण पाल के भागलपुर साम्रज्यों में ब्रह्मराज महोदय (कन्नौज) नालन्दा तथा मुगेर की चर्चा है। एहोल-अभिलेख में चालुक्य-वंशी शासक पुलकेशी प्रथम तथा द्वितीय की विजय प्रशस्ति में वातापीपुरी तथा काशीपुर का वर्णन है। मध्ययुगीय चन्देल राजाओं के अभिलेखा में कान्यकुब्ज तथा कालिंजर नगरों का वर्णन एवं दिल्ली के स्तम्भ-लेख में विप्रहराज के विन्ध्य से लेकर हिमालय तक की तीर्थयात्रा का वर्णन है। इस प्रकार विहगम-दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर अभिलेखा में निर्दिष्ट प्रदेशों तथा प्रमुख नगरों की तालिका से भारत के भौगोलिक वानावरण की एक स्थूल रूपरेखा प्राचीन नौगोलिक ज्ञान में निरानन्द उपयोगी सिद्ध होती है।

सीमा निर्देश :—

ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कुछ अभिलेखों में शासकों की विजय-यात्रा का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर प्राचीन भारत की विभिन्न राज्य-सीमाओं तथा मार्गों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता है। अभिलेखों में वर्णित विजय प्रयाग से यह अनुमान लगाना कठिन है कि समस्त विजित प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये जाते थे, किन्तु उस राज्य तथा उसके निकटवर्ती राज्यों की सीमाओं का ज्ञान अवश्य हो जाता है। यथा—अशोक के तेरहवें शिलालेख में कलिंग-विजय के प्रसंग में उसी के साथ सीमा पर स्थित अन्य भारतीय यूनानी राज्यों के नाम भी उल्लिखित हैं। अशोक के द्वितीय तथा पंचम शिलालेख में विजित राज्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि अशोक

की राज्य-सीमा मुद्र दक्षिण से सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा अफगानिस्तान के भूभाग तक फैली थी। यह दूसरी बात है कि असोक की केवल कलिगविजय श्री ही हाथ लगी। क्योंकि उसकी पूर्वक राज्य-सीमा पहले से ही विस्तृत थी, जो उसे उत्तराधिकार के रूप में मिल चुकी थी।

ईसवी सन् के प्रारम्भ में पश्चिमोत्तर प्रान्त में शासन करने वाले कुषाणनरेश कनिष्क ने अपनी राज्य-सीमा को पूरब में काशी तक फैलाया था, जिसकी पुष्टि पेशावर तथा बहाबनपुर स्थानों से उपलब्ध कुरम तथा स्यूविहार ताम्रपत्रों से और सारनाथ प्रतिमा लेख में होती है। अग्निशैलों के प्राति-स्थान भी भौगोलिक-सीमा पर प्रकाश डालते हैं। गुप्त-वंश के अग्निशैल उस साम्राज्य की भौगोलिक सीमा के निर्धारण में विशेष उपयोक्ता सिद्ध हुए हैं। समुद्रगुप्त की प्रमाण-प्रस्तुति में जादावत तथा दक्षिणापथ ब्रह्मण्ड, उत्तरी तथा दक्षिणी भाग के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उस अग्निशैल का अनुसंधान यह बतलाना है कि उत्तरी भाग में समुद्रगुप्त की राज्य-सीमा मध्य तक तथा दक्षिण भारत में काशी तक विस्तृत थी। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरीजी लौह-स्तम्भ लेख में "वर्चो महामुत्यानि मेन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका" इस उक्ति से पंजाब तक उसकी राज्य-सीमा का निर्देश मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वि० की राज्य-सीमा की पुष्टि साँचो-बेरिका तथा उदयगिरि-गुहालेख से भी होती है। मज्जिमग के पात्रवसी अग्निशैलों के साथ ही सेन-वंशी लेखों से तत्कालीन भौगोलिक सीमा का ज्ञान होता है। चानुक्य अग्निशैल (ऐहोल) में मगधेश की विजय-सीमा भाग्य में बाहर लका तक चली गयी थी। वहीं पर पुत्रकेयी द्वितीय की राज्य-सीमा महाराष्ट्र, बीजल तथा कलिङ्ग से लेकर दक्षिण पूर्व में काँचो और कावेरी तक थी। यह अग्निशैल दक्षिण भारत के अन्य राज्यों की सीमाओं का भी निर्देश करता है। काशय यह है कि इन अग्निशैलों से प्राप्त राज्य-सीमा की सूची से भौगोलिक ज्ञान अधिक साफ़ हो उठता है, जो इतिहास-निर्माण की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

मार्ग-निर्देश :—

प्राचीन मार्गों का जैसा वर्णन साहित्य में मिलता है वंसा तो अग्निशैलों में नहीं मिलता किन्तु उनसे वर्तित राजाओं के यात्रा विवरण में प्राचीन भारत के विभिन्न मार्गों का चित्र उद्भूत हो जाता है। पहले प्रधानतया अग्निशैलों के अनुसार स्थलमार्ग और जलमार्ग का संकेत मिलता है। इसके साथ ही यात्रायात्र

तथा व्यापारिक अनिलेखों से तत्कालीन मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान होता है। विभिन्न अनिलेखों में उत्तरी भारत के लिए उत्तरापथ और दक्षिणी भारत के लिए दक्षिणापथ इन दो नामों से भारत के विद्याल नु-भाग को अभिव्यक्त किया गया है। ये मार्ग जो नद्वैत्य-भेद से दो प्रकार के बनवाये जाते थे—(१) यात्रा-मार्ग तथा (२) अनियान-मार्ग।

यात्रा-मार्ग :—

बौद्ध-साहित्य तथा अशोक के द्वितीय शिलालेख से यह मजबूत भाँति ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जन्मेला से सारनाथ तथा सारनाथ से श्रावस्ती गये थे, जिन मार्गों के बीच-बीच में सँकड़ा बाराम (विद्याम-स्थान) बने थे। अशोक जब उज्जयिनी तथा लक्षद्वीप का राज्यपाल था तो वहाँ तक मुमता से यात्रा तय करने के लिए उसने अच्छे-अच्छे मार्गों का निर्माण और उन मार्गों के किनारे वृक्षों तथा कुओं का भी आयोगन करवाया था।

इन विभिन्न लेखों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि पाटलि-पुत्र से लक्षद्वीप तक प्रशस्त राजमार्ग था, जिसकी शाला सारनाथ से कौशाम्बी तथा उज्जयिनी होकर नरौरा बन्दरगाह तक चली गयी थी। इसी प्रसंग में नदी पार करने वाले मार्गों में घाटों का उल्लेख आया। नासिकलेख में दूदा, पारदा, तापी तथा साहनुवा प्रनृति नदियों की चर्चा आयी है, जिनके पाटकरो को ऋषभदत्त ने मारु कर दिया था और यात्रियों के लिए वहाँ पर विद्याम-स्थान बनवा दिया था। बुद्ध व्यापारिक-मार्गों की भी चर्चा आयी है। प्राचीन समय में व्यापार का उत्तरदायित्व श्रेणी नामक सम्था पर था। गुप्त-युग के दामोदरपुर ताम्रपत्रों में 'सार्पवाह' शब्द का प्रयोग आया है, जो व्यापारिक-स्थानों का मुखिया माना गया है। 'सार्प' को व्यापारिक-समूह और उस दल के नेता को 'सार्पवाह' कहा जाता था। कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख में कोटिवर्ष (३० बगाल) के सार्पवाह दन्धुमित्र तथा बुधगुप्त के दामोदरपुर-ताम्रपत्र में वन्धुमित्र का उल्लेख है। व्यापारियों का यह समूह विभिन्न मार्गों से बेलगाढी या घोड़ों अथवा गदहों या ऊँटों पर सानान लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान में व्यापार करता था। इन प्राचीन यात्रीयात्र-साधनों द्वारा विभिन्न किन्तु सुरक्षित तथा सुगम मार्गों से साधारण जनता तथा व्यापारियों का आवागमन होता था। निष्कर्ष यह कि भौर्य-शासन-काल से ही भारत में प्रवा-हित के लिए सुगम राजपथ प्रशस्त थे।

अभियान-मार्ग :—

अमिलेखों में शासकों के अभियान (आक्रमण) वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि उनकी सेनाएँ किसी न किसी सुगम मार्ग का सहारा लेकर ही शत्रु-राज्य की सीमा का अतिक्रमण करती रही होगी। अशोक के तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होना है कि उसके द्वारा कालिंग-विजय के लिए कई लाख सैनिकों को सुगमता से वहाँ तक पहुँचाने के हेतु सुलभ मार्ग का अन्वेषण हुआ होगा। प्रयाग-प्रघाति के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय के लिए एक नवीन मार्ग का सहारा लिया था, जो आजकल प्रयाग से जबलपुर की ओर जाता है। दक्षिण-पूर्व भाग के शासकों को पराजित करता हुआ समुद्रगुप्त काशी तक खला गया था। तदनन्तर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिम भारत की विजय की। दक्षिण के ऐहोल अमिलेख में पुलकेशी द्वितीय की विजय-यात्रा के मार्गों का सविस्तर वर्णन मिलता है।

इस प्रकार इन अमिलेखों से मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। पेघावर से बगाल, मथुरा से दिल्ली-रांची होते हुए बम्बई, पटना से प्रयाग, जबलपुर होकर बम्बई तथा कलकत्ता, मद्रास का वर्तमान रेलगाड़ी का मार्ग प्राचीन मार्ग पर ही अवलम्बित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त समुद्री जल-मार्गों का निर्देश भी शक-क्षत्रप हद्रदामन के जूनागड-अमिलेख में मिलता है, जिसने समुद्र के किनारे तक अपना अधिकार जमाया था। उसी अमिलेख में आनर्त, सौराष्ट्र, अपरान्त, मह प्रभृति बन्दरगाहों का उल्लेख है। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से इतिहास निर्माण की दिशा में अमिलेखों का महत्त्व आँका जा सकता है।

आन्तरिक पक्ष :—

ऐतिहासिक दृष्टि से.—

प्राचीन भारत के इतिहास-प्रणयन में अमिलेखों से उपादेय तत्त्वों की उपलब्धि होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यद्यपि अमिलेखों के मूल्यांकन में सनकंठा इस बात में होनी चाहिए कि ये लेख शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों की प्राप्ति में वहाँ तक सहयोग देते हैं? तथापि अतिशयोक्ति को छोड़कर यदि इन अमिलेखों के ऐतिहासिक पर विचार किया जाय तो उसकी उपयोगिता अवश्य आँकी जा सकती है। इतिहास-निर्माण की दिशा में पुरातत्त्व-सामग्रियों में अमिलेख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि जहाँ साहित्य दुर्लभ है, वहाँ पुरातत्त्व विषयों

की सहायता से इतिहास तैयार होता है। जहाँ पर इतिहासकार केवल लिखित साधनों पर निर्भर करता है वहीं पुरातत्त्व हजारों वर्ष के पुराने खण्डहरों को खादकर इतिहास रचाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित बातों की प्रामाणिकता अशोक के अभिलेखों से सिद्ध हो चुकी है। हरिष्य की प्रयागप्रशस्ति से रघुवश में वर्णित विजय-यात्रा की पुष्टि होती है। एवमेव हर्ष के अभिलेखों से बाण के कथनों की पुष्टि होती है। इन्हीं अनूल्प अभिलेखों के अध्ययन मनन के फलस्वरूप प्राचीन भारत का इतिहास आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर भी प्रामाणिक सिद्ध हो सका है। इतना ही नहीं, भारतीय सभ्यता की विद्वन्मय गरिमा इन्हीं अभिलेखा की देन है। छोटे अभिलेखा में भी अनूल्प ऐतिहासिक निधिर्मा सुरक्षित हैं। यथा—मास्को लख के आधार पर ही मौर्य सम्राट् का व्यक्तिगत नाम 'अशोक' प्रकाश में आ सका, अन्यथा उनका धर्म-अभिलेख उन्हें प्रियदर्शी तक ही सीमित रखना। अभिप्राय यह है कि प्राचीन अभिलेख अशोक, कनिष्क, गौतमी-मुत्र शातकर्णों, रद्रदामन्, समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त द्वि०, स्वन्दगुप्त, चालुक्य-नरेण पुलकेशी द्वि०, धर्मपाल तथा ध्रुव आदि शासकों के सम्वन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करत हैं। उनके प्रजाप, राज-नीतिज्ञता, धार्मिक सहिष्णुता, प्रजा-वन्द्यता और कीर्ति की गाथा सुनाते हैं। अन्यथा इन प्रसिद्ध इतिहास पुरणों का साम्प्रतिक चरित्र आज भी लोगों के लिए अनुकरणीय नहीं हो पाता अशोक के अभिलेखों में केवल बलि-विजय की चर्चा है, अतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि बलि को छोड़कर हिमालय से मद्रास तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही जीता था। दक्षिण में मौर्य उत्तराधिकारी सातवाहन-नरेण ईसा पूर्व दूसरी सदी से चौथी सदी तक शासन करते रहे। नासिकगुहालेख के आधार पर सातवाहन-नरेण गौतमी-मुत्र शातकर्णों की विजय तथा नृपान के पराजय की बात प्रकाश में आती है।

राज क्षत्रप रद्रदामन् की मूर्ति उनके जूनाठ सिंहालेख में वर्णित है, जिसने दक्षिणप्रदेश-वर्ति शातकर्णों को दो-दो बार हराया था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का सुन्दर वर्णन है, जिसका विवेचन हम उस अभिलेख के प्रथम में किए हैं। मध्ययुग में कन्नौज पर अधिकार करने के लिए प्रविहार, राष्ट्रकूट तथा पाल-नरेणों में परस्पर युद्ध की स्थिति बनी रहती थी, जिसकी पुष्टि चोर-सम्राज्य-लेख, शालिग्राम-प्रशस्ति तथा म्वालिग्र-प्रशस्ति से होती है। उनमें ध्रुव, धर्मपाल तथा बन्धराज के विजय-मराजय का उल्लेख है।

उपर्युक्त तीनों वर्णों के अभिलेखों से ग्रामकों में वशानुगत बद्ध बंर-जनित मुद्र-भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। इसी प्रकार ऐहोल प्रशस्ति में पुलनेशी द्वितीय की जीवन-कथा तथा उसके द्वारा कन्नौज-नरेश हर्षवर्धन के पराजित होने की बात सिद्ध होनी है "मयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्ष"। इस प्रकार ऐति-हासिक दृष्टि से भी इन मूक किन्तु सजीव अभिलेखों के महत्त्व का वर्णन जितना भी किया जाय थोड़ा ही है।

अब हम आन्तरिक पक्ष के अपेक्षित साधनों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

वंश-वृक्ष :—

अभिलेखों का परिशीलन तन्मन्बन्धित राजाओं की वंश-परम्परा का ज्ञान कराता है। जिस ग्रामक के राज्य-काल में अभिलेख उत्कीर्ण होता था उसके पूरे वंश वृक्ष का उल्लेख कर दिया जाता था। यद्यपि ईसा पूर्व सदियों में यह बात नहीं थी, किन्तु १५० ई० में रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख में उसकी वंशावली का स्पष्ट उल्लेख है—“स्वामिचष्टनस्य पौत्रस्य राज्ञः सप्तपस्य मुगुहीत-नाम्न स्वामिचष्टनस्य पुत्रस्य राज्ञः महाक्षत्रपस्य रुद्रदाम्न”। पश्चिमी भारत के शक-शासकों के मुंडा लेख में भी पिता पुत्र दोनों का नाम है।

गुप्त-कालीन अभिलेखों में वंशावली की परम्परा चरम सीमा पर थी। समुद्र-गुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के मित्ररी स्तम्भ-लेख में पूरी वंशावली इस प्रकार दी गयी है—

“महाराजश्रीगुप्तप्रतीकस्य, महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य, महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य कुमारदेवनामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त-पुत्र-सत्परि-वृहीतो महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमार-गुप्तस्य” “प्रपितृविजुलघामा नामतः स्कन्दगुप्तः”। कहीं-कहीं पर स्कन्दगुप्त की जगह पुरुगुप्त और उसकी वंशावली की भी चर्चा आयी है, जिसमें गुप्तों की दूसरी वंश-शाखा का भी ज्ञान हो जाता है। गुप्तकालीन बाकाटक राजा विन्ध्य-शक्ति के वामन-पत्र में उसके पितामह प्रवरसेन तथा पिता सर्वसेन का नाम आया है—“प्रवरसेन-पौत्रस्य श्री सर्वसेनपुत्रस्य धर्म महाराजस्य बाकाटकाना श्री विन्ध्यशक्ति”। प्रवर या घातु पत्र पर मुदे लेखों से जो वंशवृक्ष मिलते हैं उनके प्रदिहार-नरेश महेंद्रराज की राज-मुद्रा से उस वंश के राजा कस्य करते

का क्रमबद्ध नाम मिलता है। हर्षवर्धन के बाँसखेडा शास्रपत्र में नरवर्धन से हर्षवर्धन तक शासकों तथा रानियों के नाम उल्लिखित हैं। इसी प्रकार ऐहोल के अभिलेख में चालुक्यनरेशी की वंशावली निर्दिष्ट है। बगाल के पालवर्गीय राजाओं का वंशविवरण खार्लामपुर शास्रपत्र में मिलता है। इस भाँति प्राचीन अभिलेखों से अनेक भारतीय शासकों के वंशवृक्ष का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

जहाँ तक राजाओं के पारस्परिक युद्ध तथा विजय-प्रयाण के वर्णन की बात है, उसके विषय में उन राजाओं के अभिलेखों में सविस्तर विवेचन आया है, जिसकी आवश्यक चर्चा हम उन अभिलेखों के प्रसंग में आगे करेंगे।

शासन व्यवस्था :—

अभिलेखों के अध्ययन से प्राचीन शासन-व्यवस्था की भी रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। प्रशस्ति उत्कीर्ण करते समय अथवा राजाशा प्रसारित करते समय राज्य के कुछ पदाधिकारियों का भी उल्लेख आवश्यक ढंग में किया जाता था। मौर्य-कालीन शासन-व्यवस्था का ज्ञान अशोक के अभिलेखों से होता है। अशोक-काल से ही पदाधिकारियों की पदवी तथा कार्य के सम्बन्ध में उल्लेख है। अशोक के पंचम तथा तृतीय शिलालेख में धर्ममहामात्य, राजुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजा-हित की दृष्टि से राज्य में भ्रमण करने की आज्ञा थी। इसने यह लक्षित होता है कि राजनीति के ग्रन्थों में वर्णित पदाधिकारियों की नियुक्ति शासकों द्वारा होती थी। अशोक के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उनका साम्राज्य प्रान्तों में बाँटा था, जहाँ पर राजकुमार भी प्रान्तपति के रूप में शासन करते थे। गुप्त-अभिलेखों में गुप्तशासन-प्रणाली का सविस्तर वर्णन मिलता है। प्रयाग का स्तम्भ-लेख यह बतलाता है कि प्रशस्ति का लेखक हरिवेण महादण्डनायक, सान्धिविग्रहिक तथा कुमारामात्य पद को भी सुयोमित कर चुका था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि-लेख में सनकानिक महाराज सामन्त तथा वीरसेन सेनापति का उल्लेख है। गुप्त-लेखों से यह ज्ञात होता है कि साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त होता था और उन प्रान्तों पर शासन करने वाले राज्यपाल, राष्ट्रिय, भोगिक, भोगपति तथा गोहा इन पदों से सम्बोधित होते थे। प्रान्तों को भी जिला (विषय) में बाँटा जाता था, जिसका उल्लेख दामोदरपुर शास्रपत्रों में आया है। उसी से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रियों की नियुक्त पाँच वर्षों के लिए होती थी। नगर के कार्यालय को

अधिकरणक कहते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में उसके द्वारा सुराष्ट्र के प्रान्तरवि तथा नगर-रक्षक के रूप में पर्णदत्त तथा उसके पुत्र चन्द्रपालित की नियुक्ति का उल्लेख है। विभिन्न अभिलेखों में निम्नलिखित कतिपय प्रायःसैनिक अधिकारियों की सूची इस प्रकार मिलती है। यथा—राजा, राजानक, राजपुत्र, राजामात्य, सेनापति, विषयपति, भोगपति, पद्माधिकृत, दण्डपाशिक, चौरा-द्वरगिर, अमात्य, ज्येष्ठकायस्थ, बलाधिकृत, दण्डनायक, धर्ममहाभात्र, विषय-व्यवहारिन्, सामन्त, सान्धिविप्रहिक, महादण्डनायक आदि। शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में दक्षिण भारत के दो लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं—एक तञ्जोर के समीप नालूर से तथा दूसरा मद्रास के समीपवर्ती उत्तर मेरुर नामक स्थान से मिला है। इन लेखों के अध्ययन से मध्ययुग के आरम्भ में धामशासन पद्धति का पता चलता है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'समा' प्रायः के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं स्थानीय सभी प्रकार की समस्याओं की देख-रेख तथा उनका समाधान करती थी। उत्तर मेरुर का लेख अपने ढंग का अकेला है, जिसमें समा की विभिन्न उपसमितियों, सदस्य-निर्वाचन तथा कार्य-शैली पर प्रकाश डाला गया है, जो प्रजातन्त्र ढंग की शासन-पद्धति का द्योतक है। अभिलेखा में समुक्तधामन की भी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। इसी प्रसंग में कुछ लेखों के आधार पर नारी-शासकों का उल्लेख भी आया है, जिसकी पुष्टि वाश्मोरो मुद्रालेख तथा 'सोमलदेवी' के मुद्रा-लेख से होती है।

प्रजातन्त्र :—

अभिलेखों तथा मुद्रालेखों के अध्ययन से प्राचीन युग में दो प्रकार के शासन—प्रजातन्त्र तथा राजतन्त्र का पता लगता है। प्रजातन्त्र के लिए उस समय गण या संघ शब्द का प्रयोग होता था। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रबल साम्राज्य-भावना से संघ-शासन छिन्न-भिन्न अवश्य हो गया फिर भी उसका उन्मूलन नहीं हो सका। उत्तरीविहार में 'गृञ्जिसघ' इतिहास-प्रसिद्ध प्रजातन्त्र शासन था। अशोक के शासनकाल से साम्राज्य-भावना को और भी बल मिला, जिसके प्रभाव से संघ-शासन अपना शिर उठा न सका, किन्तु अभिलेखों के परिशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजतन्त्र के साथ ही संघ-शासन भी चलता रहा। ईसा पूर्व सत्रिंशदों में भारत में प्रचलित सिक्कों के मुद्रा लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं। दीर्घेय, कृविन्द, आर्जुनायन तथा मालव संघ-शासकों के सिक्कों पर स्पष्टरूप से लेख मुद्रा है—यथा—“दीर्घेय गणस्य जयः, मालवाना गणस्य जयः,

आजुनायनाना जय" के ऐस प्रवृत्त कथन की पुष्टि में प्रमाण है। मालव-गा का उल्लेख तथा यौधेय-गा का वर्णन, शक-नरेय नहुषान के नासिक तथा रुद्रामन् के जूनागढ़ लेखों में ब्रह्मण पाया जाता है। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भ-लेख से पता चलता है कि गुप्त-नरेय ने "मालवाजुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर" सभों की पराजित किया था। उसके बाद सघ-शासन का अस्तित्व मिट-सा गया। इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी सदी से चौथी सदी तक अर्थात् सात सौ वर्षों तक दो प्रकार के शासन का उल्लेख अभिलेखों में पाया जाता है।

उत्तर मेरु अभिलेख प्रजातन्त्र शासन-पद्धति के स्वरूप की भव्य झांकी प्रस्तुत करता है। उसमें ग्राम-सभा की समिति के स्वरूप, उपसमिति का निर्वाचन निर्वाचन-पत्र तथा उम्मीदवार सम्बन्धी विवाद विवेचन मिलता है।

उसने पता चलता है कि उस भूभाग के निवासी राजनीतिक मूल अधिकार तथा चुनाव-सम्पा की ओर विशेष ध्यान देते थे। न्याय तथा ताकिक विचारों के आधार पर अपना कार्यक्रम बनाते थे। केन्द्रीय सरकार तथा सभा के कार्य का विवेचन करते समय ग्राम के नियमों को विशेष आदर प्राप्त था। यदि समासद किसी सार्वजनिक कार्य के लिए श्रम लेता था, तो भविष्य में चुने जाने वाले सदस्य या उपसमिति को मान्य होता था। उसने सलग्न कार्य को पूरा करना, श्रम चुकाना या मूद देना आदि सुनी बातें नयी उपसमिति को मानना आवश्यक था। इस प्रकार ग्राम-सभा की कार्य-शक्ति बहुत ही बढ़ी थी। प्रजातन्त्र-शासन के प्राणनूत ग्राम-सभा का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता।

राजतन्त्र :—

इसी प्रकार अभिलेखों से राजतन्त्र-प्रणाली की शासन-व्यवस्था की मोटी-मोटी रूप-रेखा भी यों समझना चाहिए—भीयं तथा गुप्त सम्राटों के अभिलेखों से राजतन्त्र प्रणाली की शासन पद्धति के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा होता था, जिसको 'भुक्ति' कहते थे। भुक्ति भी जिलों में बँटे होते थे, जिन्हें अभिलेखों में विषय की सजा दी गई है। शासन की मुख्यव्यवस्था की दृष्टि से विषय भी 'ग्राम' सड़क छोटे भागों में विभक्त किए जाते थे। ग्राम ही शासन की सबसे छोटी इकाई था। केन्द्रो में राजा स्वयं शासन करता था और उनको परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति होती थी। अशोक के प्रथम प्रिलालेखों में इसे 'परिषद्' कहा गया है।

अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि राजतन्त्र के शासक भी प्रजाहित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। अशोक ने एक लेख में—“सर्वे मुनि से प्रजा ममा अथा प्रजाये रच्छामि हक विव सवेन हिउ सुखेन हिउ लौकिके पाललोकिके” इस उक्ति द्वारा अपनी प्रजा-वत्सलता का मुन्दर उदाहरण दिया है। अशोक के परवर्ती राजा भी प्रजा हिउ की चिन्ता करते थे। जूनागड के लेख में शकसत्रपरुद्रदामन् के प्रजा वात्सल्य के विषय में लिखा है—“अपीडयित्वा कर, विष्टि, प्रणय, त्रियामि पौरजानपद जन स्वस्मान् कापात् महता त्रिगुणदृढतरविस्नारयाम सेतु विषाय सर्वतटे मुदशंनर वाग्तिमिति”। जूनागड के गुप्त-लेख से पता चलता है कि स्वन्दगुप्त भी पश्चिमी प्रान्त के योग्य शासक के लिए प्रजा-हित की दृष्टि से विशेष चिन्तित था। “सर्वेषु देशेषु विषाय गोप्तृन् सचिन्तयामास बहुप्रकारम्”।

इसके अतिरिक्त पाल-नरेश धर्मपाल के खालीमपुर लेख से विदित होता है कि उसके पिता गाणपाल ने ‘मात्स्यन्याय’ को पराजित कर बंगाल में शान्ति की स्थापना की, जिसमें प्रभावित होकर जनता ने उसे पाल-वंश का शासक निर्वाचित किया। इस प्रकार अभिलेखों के विवरण से राजा के प्रजा-हित-चिन्तन तथा आदर्श राजशासन की बात का परिचय होता है।

राजकर :—

राजतन्त्र शासन के पदाधिकारियों की चर्चा हम कर चुके हैं। अभिलेखों से राजकीय कर सम्बन्धी तथ्यों का भी ज्ञान होता है। अशोक के स्तम्भ-लेख में यह वर्णन है कि सम्राट् ने लुम्बिनी-यात्रा के प्रसंग में उसकी स्मृति में राजकीय कर को छोटे भाग की जगह घटाकर आठवाँ भाग कर दिया था। ई० सन् दूसरी सदी के जूनागड-लेख में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि रुद्रदामन् भूमिकर तथा विष्टि अर्थात् बेगार से प्रजा को उत्पीडित नहीं करता था—“अपीडयित्वा करविष्टिप्रणयत्रियामि”। गौतमीपुत्र शातकर्णों के नासिकलेख में सब शेर को कर-मुक्त करने की बात कही गयी है। गुप्तयुगीन अभिलेखों में भी कर शब्द का प्रयोग आया है। प्रयाग-प्रशस्ति के विजय-प्रसंग में लिखा है कि ममुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के सामन्तों को पराजित कर दक्षिण भारत के शासकों से कर लेकर उन्हें मुक्त कर दिया—“सर्वकरदानाज्ञाकरण प्रणामागमन परितोषित प्रबन्धशासनस्य”। गुप्त युग के पश्चात् छठी सदी के वंश्याम दामोदरपुर तथा फरीदपुर के साम्रपत्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि छत्रा भाग ही राजकीय कर था, जिससे दानवाही मुक्त था। पालवंशी खालीमपुर साम्रपत्र में कर को

वसूल करनेवाला अधिकारी 'पट्टाधिकृत' कहा गया है। निष्कर्ष यह कि दसवीं सदी तक पैदावार का छठा भाग ही राजकीय कर समझा जाता था। ताम्र-पत्रों में दानभूमि की सभी प्रकार के करों से मुक्त माना गया है। हर्षवर्धन के समय विभिन्न करों के नाम पाये जाते हैं। भूमिकर नगद या सामान के रूप में दिया जाता था। कुछ अस्थायी कर थे और कुछ चुगी और बेगार के रूप में लिये जाते थे।

पश्चात् काल में अभिलेखों के आधार पर निम्नलिखित कर प्रचलित हो गये थे—

(१) भागकर—यह राजकीय कर था, जो पैदावार का छठा भाग था।

(२) भोगकर—यह भागकर से निम्न किन्तु उसी का भेद विशेष था।

(३) सधान्य हिरण्य—भूमिकर का कुछ अंश, जो धान्य रूप में तथा कुछ नगद रूप में दिया जाता था।

(४) हाटक—बाजार से लिये जाने वाले कर को हाटक कहा जाता था। पालवर्गी दानपत्रों में यह चुङ्गी शब्द में पुकारा जाता था।

(५) अघार भट प्रावेदय—इस शब्द का प्रयोग एक प्रकार के अस्थायी कर का बोध कराता है। यह कर ग्राम में पुलिस तथा सैनिकों के प्रवेश करने पर ग्रामीणों से लिया जाता था।

(६) दशापराध—दलभोल्लेख में इसका प्रयोग है। यह अपराधी से अस्थायी दण्ड के रूप में वसूल जाता था।

(७) भूतवात प्रत्याय—इसकी चर्चा बलनी तथा राष्ट्रकूट के लेखों में अस्थायी कर के रूप में आयी है। भूतवात से सुरक्षित (आयात) तथा निर्यात वस्तुओं पर लगाए गये कर का बोध होता है।

(८) विधि—बेगार—त्रिस कायं की मजदूरी न दी जाय। जो गरीब व्यक्ति अस्थायी कर नहीं दे पाता था, उसे बेगारी करनी पड़ती थी। इस प्रकार स्थायी तथा अस्थायी करों के नाम अभिलेखों में सुव्यवस्थित रूप से पाये जाते हैं, जो इतिहास के प्रशासकीय अध्याय की पूर्ति में सहायक तत्त्व हैं।

सामाजिक झलक :—

भारतीय समाज की सर्वप्रमुख सस्था की 'वर्णायम' कहते थे। उसी के आधार पर हिन्दू समाज अवलम्बित है। स्मृतियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र ये चार वर्ण आये हैं, किन्तु अभिलेखों का उद्देश्य वर्णाश्रम का वर्णन करना नहीं अपितु शान, शासन, व्यापार तथा सेवा के अवसर पर प्रसगात् ब्राह्मणादि वर्णों की चर्चा मात्र प्रतीत होता है। अशोक के तृतीय, चतुर्थ तथा ८ वें शिलालेखों में तथा दक्षिण भारत के नरेशों के नासिक गुह्यलेखों में ब्राह्मणों का दानदाही श्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में उल्लेख है। क्षत्रिय नाम भी युद्ध तथा अपहरण देने के प्रसंग में आये हैं। गुप्तयुग के लेखों में तीन वर्णों का उल्लेख है। गुप्त-युग के पश्चात् प्रायः वर्णाश्रम-व्यवस्था में थोड़ी कमजोरी सी आ गयी, अत एव पूर्व मध्ययुग के अभिलेखों में शासक का कर्त्तव्य समाज की स्थिरता के लिए वर्णाश्रम की रक्षा करना हो गया। इसका संकेत गुप्त-सामन्त सलोभ के सोह-साम्रपत्र, प्रभाकरवर्धन के वासुदेव ताम्रपत्र, मास्वर वर्मन् के निधानपुर तथा ११ वीं सदी के सदी के राजा इन्द्रपाल के गोहाटी ताम्रपत्र से मिलता है, जिन शासकों ने शिथिल वर्णाश्रम-व्यवस्था को सुदृढ़ किया और जिनके प्रभाव के कारण बंगाल के बौद्ध महानुभायी पाल राजा भी वर्णाश्रम व्यवस्था की सुरक्षा में क्रियाशील था।

ब्राह्मण—गुप्तयुग से पूर्ववर्ती ब्राह्मणों के विषय में अभिलेखों में यह उल्लेख है कि वे अपनी विद्वत्ता, शुद्ध आचरण तथा व्यावहारिक-कौशल के कारण चारों वर्णों में श्रेष्ठ माने जाते थे। अन्य तीनों वर्णों उनके बनाये मार्ग पर चलते थे। गुप्तकाल में भी ब्राह्मणों का सम्मान बना रहा। गुप्तयुग के बाद ब्राह्मणों में उपजातियों तथा जीविका-साधन के विभिन्न भेदों के कारण उनका सम्मान कम हो गया। उनके स्थान में क्षत्रिय समाज के अगुआ बन बैठे और उनके आज्ञानुसार ब्राह्मण कार्य करने लगे। यद्यपि साहित्य में पचगौठ का विवरण है किन्तु अभिलेखों में प्रधानतया शान्यकुब्ज, मंडिल तथा सरयूपारी ब्राह्मण-भेदों का उल्लेख है। छठी सदी के बाद गोत्र तथा वैदिक शास्त्र के आधार पर ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया गया, जिसका उल्लेख प्रत्येक दान-पत्र में मिलता है। मालवा की प्रगल्भि में ब्राह्मणों का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार मिलता है—

(१) माध्यन्दिन (शुक्ल यजुर्वेद) शास्त्र का ब्राह्मण।

(२) आश्वलायन (ऋग्वेद) शास्त्र का ब्राह्मण।

(३) कोपुम (सामवेद) शास्त्र का ब्राह्मण।

अभिलेखों अनुसार ब्राह्मणों को यदुर्गम के अतिरिक्त अपने जीविकोपार्जन

के लिए अन्य कार्य भी हूँदने पडे । यथा—मध्ययुगीन-प्रशस्ति में उनके वीरोहित्य, मन्त्रित्व तथा सेनापतित्व का भी उल्लेख आया है । आपत्ति या परिस्फिति-व्यवस्था के जीविका के लिए देशान्तर भी जाते थे ।

क्षत्रिय—सानवी सदी से शानन सम्बन्धी अभिलेखों में क्षत्रियों का नाम आता है जो राजनीतिक परिस्फिति-व्यवस्था समाज में अपना हो गये थे । पूर्व-मध्ययुग में क्षत्रियों के लिए 'राजपूत' शब्द का प्रयोग मिलता है जिनका निवास-स्थान राजपुताना बताया गया है । 'राजपूत' की उत्पत्ति के विषय में इन विग्रहराज के अभिलेख विवेचन प्रसंग में सविस्तार विचार करेंगे । राजपूत नरेशों का अभिलेख उन्हें प्राचीन क्षत्रिय-वर्ग का वंशज सिद्ध करता है । उस युग में राजपूत भी दो वर्गों में विभक्त हो गये थे—

(१) शासक वर्ग तथा (२) साधारण क्षत्रिय वर्ग ।

शासकों की श्रेणी में कुछ हूण प्रभृति विदेशी भी घुस आए थे, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध राजघराने से हो गया था । कलचुरी-लेख में इसका संकेत है ।

राजकीय अभिलेखों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सानवी सदी से १२ वी सदी तक राजकुमार को कुशल शासक बनाने के लिए समुचित शिक्षा दी जाती थी । मालवा के एक चहमान-लेख में तथा प्रतिहार-लेख में इसका उल्लेख है । सारांश यह है कि समाज में क्षत्रिय-वर्ग का शिथिल तथा सफल शासक होने के कारण आदर या और के समाज के रक्षक भी थे ।

वैश्य—स्मृतिकारों के अनुसार वैश्य का स्थान तृतीय जाति में था और उनका काम पशु-पालन तथा कृषि था । गुप्त-युग के परवर्ती अभिलेखों में दान के प्रसंग में कृषि, वन्य, पशु तथा व्यापारिक चुङ्गी का वर्णन आया है । वणिक् शब्द का प्रयोग वैश्य-वर्ग के लिए प्रायः सर्वत्र लेखों में पाया जाता है, जिसका उल्लेख परमार चामुण्ड राय के लेख तथा चहमान-लेख में मिलता है । इस प्रकार यह जाति व्यापार में भी अपनी जीविका चलाती थी । वणिक्-वर्ग का एक वर्ग बैंक का भी काम करता था, जिसका संकेत नागिक-लेख में है । व्यापार के अनुसार वणिक् श्रेणियों में विभक्त थे । स्थानीय व्यापारी छोटे या बेलगाठी के माध्यम से व्यापार करते थे और विदेशों में व्यापार करने वाले सायबाह कहलाते थे ।

शूद्र—वर्ग व्यवस्था में शूद्रों की अन्तिम स्थान मिला है तथा उसका धर्म द्विजाति मात्र की सेवा था किन्तु अभिलेखों में इनका स्थान उतना हीन नहीं

या । अशोक ने अपने घर्मलेखों में शूद्रों के साथ समुचित व्यवहार का आदेश दिया था । उस समय शूद्र अस्पृश्य नहीं माने जाते थे । सेवा-कार्य के अभाव में वे वैश्य-वृत्ति से भी अपना निर्वाह करते थे । दानपत्रों से पदाधिकारियों के साथ कायस्थ और चाण्डाल जाति का भी बोध होता है जो चतुर्वर्ण से पृथक् थे । अभिलेख के अन्त में "कायस्थेन लिखित" से व्यक्त होता है कि कायस्थ-वर्ण 'लेखकों के समूह' अर्थ में प्रयुक्त था किन्तु सातवीं सदी से जति अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा । 'ब्राह्मण चाण्डालपर्यन्तान्' इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि, शूद्र से पृथक् सबसे निम्नकोटि की चाण्डाल जाति थी ।

आश्रम—अभिलेखों के अध्ययन से मानव-जीवन के ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों का ज्ञान होता है । अशोक के समय में इस आश्रम-श्रवणस्या में शिपिलता तो आयी किन्तु बाद में चारों की प्रतिष्ठा की गयी । दान के अवसर पर सामाजिक सस्कारों का उल्लेख मिलता है । साथ ही बहुपत्नी-व्रत तथा सती-प्रथा का भी संकेत मिलता है । संगीत की प्रधानता के कारण गायिका-गणिका का भी उल्लेख है । मनोरञ्जन के साधन के रूप में मृगया, संगीत, छूत-जोड़ा तथा छतरज के साथ राज-परिवार तथा उच्च परिवार की रमणियों में पत्नी-विनोद का भी वर्णन है ।

सामाजिक उत्सव तथा आवागमन :—

राजतिलक, विवाह, विजय तथा त्योहारों के अवसर पर उत्सव-विशेष का आयोजन होता था, जिसमें मुख्य रूप से नाटक तथा संगीत का मनोहर कार्यक्रम प्रमुख स्थान लेता था । आवागमन के साधन के रूप में स्थल-यान के रूप में रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट तथा बैलगाड़ी का अधिकतर उपयोग होता था, जलयान में नाव तथा समुद्री जहाज का भी प्रयोग किया जाता था ।

चरित्र चरित्र—अभिलेखों के परिशीलन से भारतीय जन-जीवन के उज्ज्वल चरित्र का भी दिग्दर्शन होता है । गुप्त-काल में कोई व्यक्ति अधार्मिक, ब्यसनी, आतं, दरिद्र तथा पीडित नहीं था, जिसका संकेत जूनागढ़ लेख में "दरिद्रो ब्यसनी वदसो दण्डपो वा यो भृश न पीडित स्यात्" इस रूप में मिलता है । राजा की चारित्रिक विशालता का परिचय प्रयाग स्तम्भ लेख से स्पष्ट मिलता है । नालन्दा साम्राज्य के अनुसार ब्राह्मण दानप्राही होकर भी उच्च आदर्शों की रक्षा के लिए धन का सहर्ष त्याग करता था । भारतीय जनता

का प्रधान आदर्श सासारिक वैभव न होकर परलोक और परोपकार साधन था। राजा बहुपत्नी-व्रती होकर भी सभी स्त्रियों के प्रति समान प्रेम तथा आदर का व्यवहार करता था। सामान्य जनता भी पवित्र जीवन का आग्रह लेकर दान, व्रत, तीर्थ और यज्ञों में विश्वास रखती थी। पूर्व-मध्ययुग के सहस्रों दान-पत्र जन-जीवन की धार्मिक भावना के द्योतक हैं। समस्त अमिलेखों से यह प्रकट होता है कि समाज में धार्मिक भावना का प्रादुर्भाव था। व्रतों के प्रति लोगों की सतत जागृकता तथा तीर्थ-यात्रा में उनकी आस्था उनके पवित्र-जीवन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

धार्मिक स्थिति तथा उसकी सहिष्णुता :—

बौद्ध-मत—अमिलेखों के वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि अधिष्ठित स्त्रियों का प्रणयन धार्मिक भावना की प्रेरणा का फल है। इस दिशा में सर्व प्रथम अशोक के ही शिलालेखों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर अशोक ने इस धर्म को राज-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित किया। स्तम्भों पर खुदवा कर भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी उसका प्रचार किया। धार्मिक-भावना के प्रतिपादन का प्रमुख साधन स्तम्भ-लेख हो गया। बाद में ईसवी सन् के आरम्भ में कुषाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म को प्रोत्साहित किया और उसकी चौपी सगीति भी बुलवायी। मथुरा के बौद्धप्रतिमा लेख से इस बात का सकेत मिलता है। गुप्त-काल में बौद्ध-मत के प्रसार का आभास सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाओं से मिलता है। गुप्त-काल के बाद सातवीं सदी से बुद्ध के तीसरे पान वज्रयान का प्रसार उत्तर भारत में पाया जाता है। पाल-नरेशों की प्रशस्तियाँ 'नमो बुद्धाय' बुद्ध की इस प्रार्थना से प्रारम्भ होती हैं। अतः पाल-नरेशों के बौद्धमतानुयायी होने का सकेत मिलता है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार का ज्ञान अमिलेखों से प्राप्त होता है।

जैन-मत—ईसा पूर्व छठी सदी से ही महावीर ने जैन-धर्म का प्रचार किया था, जो कालान्तर में भी विकासोन्मुख रहा। अशोक के अमिलेख में 'निग्रह' शब्द का प्रयोग जैन-धर्म के लिए किया गया है। उदयगिरि के गुहालेखों से उदीसा में जैन-धर्म के प्रचार की बात सिद्ध होती है। दूसरी सदी के जुनागढ़ लेख में भी जैन-मत का सकेत है। ई० सन् के आरम्भ में जैन-प्रतिमा की आधारशिला पर उत्कीर्ण लेख मिलते हैं। गुप्त-युग के अमिलेखों में भी जैन-

धर्म का सकेत है। पूर्वं-मध्ययुग के राजपुताना के विस्तृत भूभाग में जैन-धर्म के व्यापक प्रचार का आभास मिलता है, जिसके फलस्वरूप महावीर पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ की पूजा प्रचलित थी। चन्देल राज्य के प्रधान खजुराहो नगर में शैल तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं की आधार-शिला पर उत्कीर्ण लेख इस बात का प्रमाण है कि राज-वर्ग के अतिरिक्त जनसाधारण में भी जैन-मत का व्यापक प्रचार था।

भागवत धर्म—भौर्य युग के बाद गुप्त-युग में भागवत धर्म का प्राधान्य हो गया, जो वैदिक धर्म के प्रचार में प्रधान सहायक बना तथा बौद्ध-धर्म के प्रभाव को घटा दिया। अयोध्या-लेख से यह सकेत मिलता है कि भौर्य-युग के बाद सर्वप्रथम सुद्ध-नरेश पुष्यमित्र ने ब्राह्मण-धर्म को पुनः जागृत किया और दो अश्वमेध यज्ञ भी किये। अन्य तत्कालीन राजाओं ने भी उनका अनुकरण किया। ई० सन् चौथी सदी में गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख से उसके परम भागवत होने का स्पष्ट सकेत मिलता है और उसकी विष्णुमूर्ति की चरम सीमा का प्रमाण गरुडाङ्कित आज्ञापत्र ही है। "गरुत्मदङ्क स्वविषयमुक्ति शासन याचना"। उत्तरी भारत के लेखों में वैष्णव-मत का प्रचार अधिकतर मन्दिर-निर्माण के वर्णन में ज्ञान होता है। खजुराहो का चन्देल-लेख इसकी पृष्टि में प्रमाण है। परमार राजा भोजदेव के चैतमा ताम्र-पत्र में विष्णु-मन्दिर के सम्मुख गरुड-ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है।

शैव-मत—ईसा पूर्व सदियों में वीम कदम्ब के सिक्के पर शैव मत का उल्लेख है। नृपाण नरेशों द्वारा शैव मत को विशेष प्रोत्साहन मिला होगा। इसी-लिए अमिलेशों में वह 'महोदर' पदवी से विभूषित था। गुप्त-युग के अमिलेशों से शैव-मत के प्रचुर प्रचार का परिज्ञान होता है। चन्द्रगुप्त द्वि० के उदयगिरि-लेख तथा कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा लेख में शिवलिंग की पूजा का वर्णन आया है। गुप्तकाल के पश्चात् छठी सदी के शासक विष्णुवर्धन के मन्दसोर-लेख में तथा हूण-राजा मिहिरकुल की ग्वालियर प्रशस्ति में शिव की वन्दना रोचक दृष्टियों में की गयी है। सातवीं सदी में बंगाल से भी शैव-मत के प्रचार का उल्लेख पाल तथा सेनवंशी प्रशस्तियों में मिलता है। बाद के अमिलेशों में इस मत के पाण्डुपुत्र और कार्पालिक इन दोनों भेदों की विभक्ति का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त सूर्य-पूजा, शक्ति-पूजा और गणेश-पूजा का भी वर्णन यज्ञ-उत्तर अमिलेशों में पाया जाता है। धार्मिक कार्यों में मुख्यरूप से वैदिक

यज्ञों, मन्दिर-निर्माण, पुराने मन्दिरों का सस्कार, देवपूजन, सत्र-स्वाध्याय, सत्संग गोष्ठो, दान, धार्मिक उत्सव, व्रत तथा तीर्थाटन का विस्तृत विवेचन अभिलेखों में विद्यमान है।

धार्मिक सहिष्णुता—जहाँ तक एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ सम्बन्ध-निर्वाह की बात है उसके विषय में अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि धर्मों में पारस्परिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में थी। अशोक से लेकर १२ वीं सदी के दशक नरेश तक धार्मिक सहिष्णुता की भावना से प्रेरित ये और धर्म के मामले में कट्टरपथी नहीं थे। विभिन्न शासकीय अभिलेखों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि धर्म के मामले में यहाँ के राजे सहिष्णु थे। अशोक ने १२ वें शिलालेख में दूसरे धर्म की निन्दा का निषेध किया है। दक्षिण भारत के सातवाहन नरेशों के लेखों में एक ओर वैदिक यज्ञों का वर्णन है तो दूसरी ओर बौद्ध-संघ को गुहादान की भी चर्चा है। सातवाहन के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु-नरेश ने वैदिक यज्ञ बर्ता होकर भी बौद्ध बन्दा से विवाह किया था। गुप्त-नरेशों का भी यही हाल था। गुप्त-नरेश परम वैष्णव होकर भी शैव तथा जैनमतानुयायी अधिकारियों की नियुक्ति करने में हिचकते नहीं थे। मध्ययुग के पाटनरेश परम शैव होकर भी ब्राह्मण-देवताओं के लिए दान देते थे। नारायण पाठ ने संकड़ों शिव-मन्दिरों का निर्माण करा कर पाशुपत मतानुयायी आचार्य को मन्दिर का पदाधिकारी बनाया था। सञ्जुराहो का विष्णु, उंब तथा जैनमन्दिर धार्मिक सहिष्णुता के जीते जागते नमूने हैं। सभ्य में यह कहा जा सकता है कि भारतीय नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता उच्च कोटि की थी, जिसका उदाहरण अन्यत्र सम्भव नहीं।

आर्थिक स्वरूप :—

प्राचीन भारत की आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही अभिलेखों से नीतिक उन्नति का भी विस्तृत ज्ञान होता है। तत्कालीन अभिलेखों में सामाजिक विषयों पर चर्चा करते समय आर्थिक-स्वरूप का दिग्दर्शन भी किया जा सकता है। जनता द्वारा दान देने की प्रणाली से अभिलेख-कालीन जनता के वैभवपूर्ण सुखी जीवन का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। धन तथा भूमिदान-प्रसंग से जन-जीवन की सन्तोष-प्रद आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। जूनागढ़-अभिलेख में यह वर्णन है कि प्रजा-संगों का कोई भी सदस्य दुखी नहीं था। दानपत्रों का विवरण

आपिक सुदृढता के प्रबल प्रमाण हैं। कृषि-प्रधान देश होने के कारण प्रशस्तियों में सभी प्रकार के अन्न तथा फलों का वर्णन मिलता है। मध्ययुग के आरम्भ से दान सम्बन्धी आज्ञा-पत्रों में भोजन-सामग्रियों का तथा नालन्दा ताम्र-पत्र में "सम्पन् बहुपुत्रबहुदधिभि व्यञ्जनं पुक्तमन्नम्" इस कथन से समुन्नत भोजन-स्तर का ज्ञान होता है। पालवर्षी दानपत्रों में नीची भूमि को उत्तमकोटि की दानभूमि माना गया है जो वर्षा होने पर ज्वर हो सके। निष्कर्ष यह कि दानकर्ता कृषियोग्य भूमि को ही दान में देता था।

भूमि की सिंचाई की ओर राजा का विशेष ध्यान रहता था और सिंचाई-साधन में झील, नहर, तालाब तथा बाँध के निर्माण का उल्लेख बहुधा अभिलेखों में पाया जाता है। इस सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्माण कराया गया और रुद्रदामद तथा स्कन्दगुप्त द्वारा सस्कार कराया गया सुदर्शन झील का वर्णन पर्याप्त है। दक्षिण के सातवाहन मरेय पुलुमावी के राज्य-काल में सिंचाई के लिए तालाब बनवाने का उल्लेख लेखों में आया है। सप्तम सदी के लेखों में इसकी विशेष चर्चा है। गुप्त-युग तक राजाओं का ध्यान सिंचाई के साधन के रूप में नहर निर्माण की ओर था। उत्तर-प्रदेश की देवल-प्रशस्ति में नहर-निर्माण का सुन्दर वर्णन है। इसके साथ ही यत्र-नत्र कुआँ, रहट तथा मोट से भी सिंचाई का वर्णन है। यह तो कृषि व्यवस्था की बात हुई।

व्यापारिक-संस्थाओं को राजाज्ञा के कारण मन्दिरों में देव-भूजन के हेतु 'वर' देने की बात है। व्यापार सम्बन्धी समस्त कार्यों का संचालन एक संस्था द्वारा होता था, जिसे अभिलेखों में 'श्रेणी' कहा गया है। यह संस्था प्रजातंत्र शैली पर कार्य करती थी और देश की बहुत कुछ आपिक नीति श्रेणी के हाथ में ही थी। सत्रवाहन तथा सत्रिय वर्षी अभिलेखों में समठित शिन्धश्रेणी का वर्णन है। गुप्त-काल में भी औद्योगिक उन्नति का श्रेय तत्कालीन श्रेणियों तथा निगमों को था, जिसका उदाहरण कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर लेख में श्रेणी बुनकर श्रेणी का उल्लेख है। नासिक तथा मयुरा लेख में श्रेणी तथा निगम के बैंक-कार्य का भी पता चलता है। अतः श्रेणी के विकास धन-शक्ति सम्पन्न थे, जिससे उन बैंकों में जनता अपनी धनराशि विश्वासपूर्वक सुरक्षित रखती थी। इतना ही नहीं, बंगाल के वीगरा लेख में राज्य के अन्नमण्डार में अकाल-पीडित प्रजा को अन्न बाँटने तथा जनता को राज्य की ओर से ऋण देने का वर्णन है। राज-वर से राज्य-कोष की पूर्णता का उल्लेख भी सर्वत्र मिलता ही है। दक्षिण भारत के

घंटघाला लेख में महानाविक गिबक का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ का व्यापार क्षेत्र जहाँकों के माध्यम से विदेश तक भी विस्तृत था। जावा के राजा की प्रार्थना पर फाल्-पासक ने दो पाँच पाँच दान में दिया था उससे दिग्ब्रमेम की मूलक के साथ ही अमिलेखों से निरव-स्तर के नारण्य अर्पिक स्वरूप का परिज्ञान होता है।

अमिलेखों में माहित्य-वर्चा :—

दक्षिण प्राचीन समय में अमिलेखों को उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य साहित्यिक न होकर कुछ और ही था। यद्यपि उन उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से इतना ठोस परिच्छिन्न होता है कि प्रशस्तिकार चरम कोटि का विद्वान् और साहित्य-शास्त्र की परम्परा से पूर्णतया अवगत होता था, जिनकी प्रशस्तिपत्रों में साहित्य-सौन्दर्य की भी मनोरम शक्ती मिल जाती है। प्रशस्तिपत्रों प्रायः प्राकृत या संस्कृत भाषा में लिखी जाती थी। यों तो संस्कृत में लिखने की बड़ा प्राचीन काल से ही विद्यमान थी किन्तु खडगमन् के जनागदलेख से पूर्व संस्कृत भाषा का कोई भी अमिलेख उपलब्ध नहीं है। इसलिए संस्कृत अमिलेखों में यह लेख सर्वप्रथम माना जाता है। इस अमिलेख का लेखक एक विद्वान् साहित्यिक नवर काटा है, जिसने इस छाटे से अमिलेख में गद्य-पद्य के वैशिष्ट्य का सुन्दर नमूना पेश किया है, जिसका उल्लेख दण्डी के बाव्यादयं में मिलता है। लेख में राजा के लिए "स्तुट-स्तु-नपुर-वित्र-बान्ध-गुण्ड समसोदापलकृत गद्य-पद्य" यह विरोधन प्रयुक्त है, जो बाव्यादयं में अपिप्त—“रलेय प्रसाद समता माधुर्न सुकुमारता, अर्प-अतिरदारखमोत्र. बान्धिसमाधयः” इस वैदर्भी शैली की विशेषता से समता रखता है। संस्कृत के अलकार प्रयोग में जो बाव्य की परिभाषा लिखी गयी है उसी तरह की बातें उस अमिलेख में पायी जाती हैं। सम्पूर्ण लेख का परिशीलन यह बताता है कि लेखक बाव्य-शैली में लिखने का अन्त्याप्यो बाँव था। संस्कृत-साहित्य का प्रथम चरण होने के कारण यह अन्त्याय सनाया था सुकता है कि साधारण जनता भी संस्कृत से परिचित थी। अन्त्याय उरकीय लेख आलंकारिक भाषा में नहीं लिखा जाता, क्योंकि खडगमन् के अन्य मुद्रा-लेख प्राकृत भाषा में मिलते हैं। इतना ही नहीं, दक्षिण तथा पश्चिम भारत के समस्त लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये थे। कारण यह है कि ई० सन् १५० से पूर्व संस्कृतमय अमिलेख उपलब्ध नहीं हैं। तीसरे सदी से समस्त भारत में संस्कृत भाषा में

अभिलेख सुदवाने का प्रचार बढ़ा, जिनके अध्ययन से अनेक साहित्यिक तथ्यों का उद्घाटन होता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति गद्य मिश्रित भाषा में लिखी गयी है, जो लघु-चम्पू-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। साहित्य दर्पण में "गद्यवद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते" यह चम्पूकाव्य की परिभाषा है। प्रयाग प्रशस्ति 'ओत्र समासभूषस्त्वमेतद् गद्यस्य जीविनम्' इस साहित्यिक गद्यवैशिष्ट्य का शोभन निदर्शन है। इसमें इतने समस्त पद हैं कि लेखक का समास-गद्य-श्रेय स्वयं प्रकट हो जाता है। इस अभिलेख की एक विचित्र विशेषता यह है कि इसके लेखक हरिषेण जैसे विद्वान् प्रशस्तिकार का नाम अन्यत्र नहीं मिलता। चम्पू काव्य-शैली के उन्नायक इस कवि की अन्य कृति उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि हरिषेण जैसा सफल साहित्यिक मर्मज्ञ भी सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण राजकीय पद को अलङ्कन करता था। यद्यपि गुप्त-युग का अधिकतर लेख किसी छन्दविशेष को लेकर लिखा जाता था, किन्तु कुमारगुप्त का मन्दसोर लेख तथा स्कन्दगुप्त का जूनागढ अभिलेख अनेक कोमल एवं सरस छन्दों में लिखा गया है। हरिषेण की ही भाँति मन्दसोर-प्रशस्ति के लेखक वत्समट्टि का इतिहास भी अन्य साधनों से अज्ञात है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अभिलेख ऐसे विद्वान् प्रशस्तिकार का भी नाम बतलाता है जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार प्रशस्तियों से सस्कृत-साहित्य के इतिहास को जानकारों में भी सहायता मिलती है। रुद्रदामन् और समुद्रगुप्त के अभिलेख सस्कृत गद्य-साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय को पूर्ण करते हैं। गुप्तकालीन जिन कवियों की कीर्ति केवल अभिलेखों में सुरक्षित है, उनमें सबसे योग्य विद्वान् कवि वत्समट्टि हैं। उनके द्वारा रचित मन्दसोर-अभिलेख साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से बेजोड़ है। इस में दशरुच में सूर्य-मन्दिर का मध्य वर्णन है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा ललित किन्तु अर्थ-गौरव से ओतप्रोत है। पद्य सरस वैशमी शैली में लिखे गये हैं। अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश चार चाँद लगा देता है। काव्य के इन्हीं गुणों के कारण वत्समट्टि महाकवियों की पक्ति में आदर से बँठाये जाते हैं। इन पूर्वोक्त अभिलेखों का साहित्यिक वैशिष्ट्य विवेचन आगे उन-उन अभिलेखों के प्रसंग में किया जायेगा। इस युग के कवियों में वामुठ का भी नाम अमर हो गया है, जिसने मालव-नरेश यशोधर्मन् की मन्दसोर-

प्रशस्ति लिख कर अपनी काव्य-निपुणता का परिचय दिया है। ईशान वर्मा की हरदा-प्रशस्ति के लेखक रवि शान्ति का नाम भी गौरव से लिया जाता है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि यह नाम भी अन्यत्र नहीं मिलता। चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय का ऐहोल-अभिलेख रविकीर्ति की काव्य शैली का अनुपम उदाहरण है। अभिलेख के ३७ वें पद्य में रविकीर्ति "कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्ति"—इन कथन से कालिदास तथा भारवि के टक्कर के कवि हो गये थे। इस प्रकार प्रशस्तियों के अन्त में जिन कवियों के नाम आते हैं उनमें से प्रधान कवियों का निर्देश ऊपर किया गया है। यदि अभिलेखों का अध्ययन नहीं होता तो इनकी कीर्ति का पता लगना असम्भव था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है संस्कृत-साहित्य का इतिहास इन अभिलेखों के बिना अधूरा ही रह जाता।

अभिलेखों में साहित्यिक पद्यों के अतिरिक्त कुछ नाटकों की भी खर्चा आयी है। अजमेर के शिलाखण्ड पर सोमदेव-रचित 'ललित विग्रह नाटक' उत्कीर्ण मिला है। उसमें चाहमान-नरेश विग्रहराज का यशोगान है। धारा के समीप प्रस्तर पर हरकेलि नाटक खुदा हुआ मिला है, जिसका लेखक विग्रहराज था। धारा के एक अन्य शिलालेख में विष्णु के कूर्मवितार का वर्णन है, जो प्राकृत भाषा में है। इस प्रकार प्रशस्तियों का परिचालन संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण ऐतिहास पर प्रकाश डालता है।

अभिलेखों में साहित्य समीक्षा की दृष्टि से चन्देल नरेश के खजुराहो-लेख का उद्धरण प्रशस्तिकारों की काव्यमय शैली तथा साहित्यिक मूल्य की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करता है। पूर्व मध्ययुग में संस्कृत-साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी। जिस गति से विविध विषयों पर संस्कृत में ग्रन्थ रचना हुई, उसी गति से अभिलेखों की उत्कीर्णता भी समुन्नत रही। काव्य-शैली, अलंकार प्राचुर्य, छन्दो-बाहुल्य, श्लेषाधिक्य एवं रस-प्राबल्य प्रशस्तियों के प्राणमृत तत्व थे।

शिक्षण-संस्था :—

अभिलेखों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि भारत में शिक्षणसंस्थाओं का जन्म कुछ बाद में हुआ होगा। प्रारम्भ में अध्यापक-वृन्द व्यक्तिगत रूप से ही विद्या-दान करते थे। प्राचीन गुरुकुल, तलाशिला और काशी के गुरुद्वय इस

शिक्षा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। ई० सत्र दूसरी सदी के नासिक लेखों में शिक्षार्थी-मिश्रणा के भोजन-वस्त्रादि के निमित्त अग्रहार का उल्लेख है। बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग से यह विदित होता है कि शिक्षा कार्य बाद में गुहाओं में चलने लगा। उदुत्तर समस्त भारत में शिक्षा-केन्द्रों की व्यवस्था होने लगी। तक्षशिला, काशी, पाटलिपुत्र, कन्नौज, मिथिला तथा घाटा का नाम शिक्षा-केन्द्रों में आदर से लिया जाता था। बौद्ध-विहार तथा हिन्दू-मन्दिरों में शिक्षा-सम्पाओं का कार्य सम्पन्न होने लगा। अतः एक मठ-मन्दिर का अधिकाधिक दान मिलने लगा। तक्षशिला के लेखों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। गान्धार-कला की उन्नति से यह अनुमानित है कि तक्षग-कला की शिक्षा भी मिलती थी। तक्षशिला सु-व्यवस्थित तथा संगठित शिक्षा-केन्द्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता था।

तक्षशिला की अनेक शिक्षा-केन्द्रों में काशी का स्थान ऊँचा था। इसकी सत्र पूर्व से ही यह नगर भारतीय सभ्यता तथा शिक्षा का केन्द्र था। शिक्षा-केन्द्रों के रूप में काशी की प्रतिष्ठा सदियों तक अक्षुण्ण रही। वैदिक-युग से लेकर बौद्ध-युग तक इसकी शैक्षणिक स्थिति लाभग एक भी बनी रही। इसीलिए बुद्ध ने अपने प्रथम धर्म-प्रवचन का उपयुक्त क्षेत्र काशी (सारनाथ) को चुना। अशोक के समय से ही सारनाथ की प्रधानता ही चली और मौर्य-युग के बाद यह एक प्रसिद्ध बौद्ध-शिक्षा-केन्द्र बन गया। यहाँ पर शिक्षा कार्य १२ वीं सदी तक चलता रहा और यही कारण है कि महदवाल राजा गोविन्द चन्द्र की धर्म-पत्नी कुमारी देवी के विहार-दान का विवरण सारनाथ-अभिज्ञेयों में मिलता है। सारनाथ-शैली की बुद्ध प्रतिमा बौद्ध-कला की अनुपम उपलब्धि है, जिससे साहित्यिक एवं शैक्षणिक कलात्मक-प्रगति का आभास मिलता है। आज भी काशी सभ्यता-विद्या के प्रधान केन्द्र के साथ ही भारत की सांस्कृतिक राजधानी मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त, पाटलिपुत्र के समीप नाळन्दा का विहार अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-सम्पा के रूप में प्रसिद्ध था। वहाँ पर भारतीय छात्रों के सिवा विदेशी विद्वान् छात्र भी भारतीय-सभ्यता का अध्ययन करने आते थे। पाँचवीं सदी में यह विद्या का प्रधान केन्द्र बन बैठा। गुप्त तथा पाल नरेशों ने इस विहार की उन्नति में अग्रणी योग दिया। प्राचीन समय से ११ वीं सदी तक विहार-निर्माण-कार्य अचिरल गति से चलता रहा। नाळन्दा की आधुनिक सुसार्द ने उसे एक

विशाल विश्वविद्यालय के रूप में उपस्थित किया है, जिसमें तीन सौ छोटे-छोटे कमरे तथा सात विशाल व्याख्यान मन्दिर भी थे। पूर्व-मध्ययुग के एक अमिलेख में बिहार के गगन-बुम्बी दिल्ली का वर्णन मिलता है। ताम्र-पत्र के आधार पर जावा के राजा द्वारा निर्मित वहाँ के दो विहारों में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजनादि के प्रबन्ध के लिए देवालय ने पाँच गाँव दान में दिया था, जिसे उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का परिचय मिलता है। इसीलिए चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा इत्सिंग यहाँ तक नालन्दा विहार में शिक्षा ग्रहण करते रहे। काठियावाड़ में दलमी भी प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ गुयोग्य स्नातक उच्च राजकीय पद पर नियुक्त होते थे। दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजा के मंत्री नारायण ने सलोत्गी (बीजापुर) में एक देवालय का निर्माण कराया था, जो १२ वीं सदी में वैदिक शिक्षा का केन्द्र बन गया। वहाँ की प्रशस्ति में छात्रों के भोजन, दीपक तथा आवास के लिये ५०० निर्वातन भूमि दान में दी गयी थी। अन्य लेखों से पता चलता है कि दक्षिण में कई विद्यापीठ राजकीय सहायता से चलते थे और प्रधानतया देवालय ही शिक्षा के केन्द्र हो गए थे। १२ वीं सदी में दक्षिण अरकाट जिले में एम्प्रायिर्म् विद्यापीठ तथा चिङ्गलपुर में व्यंबटेश पेरूमल देवालय महत्त्वपूर्ण शिक्षण सस्था के रूप में प्रसिद्ध थे। इस प्रकार प्राचीन अमिलेखों का अध्ययन शिक्षा-केन्द्रों, छात्रावास, भोजन-वस्त्र, पुस्तक और औपधादि विषयों के समुचित प्रबन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

शिक्षा के विभिन्न विषय :—

प्राचीन अमिलेखों में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा सम्बन्ध नहीं मिलता किन्तु दान के पात्र सम्बन्धी वार्ता में दानग्राही की विविध विषयक विद्वत्ता का वर्णन आया है। मौर्य-युग में प्रधानतया बौद्ध-धर्म का शिक्षा के विषय में बोल-बाला था। तदुत्तरवर्ती लेखों में विधिबन्धु यज्ञ-समाप्ति के उल्लेख से समाज में वैदिक शिक्षा प्रचार की बात सिद्ध होगी है। पूर्व मध्य-युग के अमिलेखों का अनुशीलन वेद वेदांग के अतिरिक्त दर्शन, उपवेद तथा इतिहास के पठन-याचन को सिद्ध करता है। साथ ही ज्योतिष तथा घर्मशास्त्र का भी उल्लेख है, जिन विषयों के अध्ययन के बाद लोग राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। इसलिए वेदांग (शिक्षा, निरक्त, छन्द, उच्चारण, कल्प तथा ज्योतिष) का अध्ययन प्रधान हो गया। समस्त अमिलेखों का परिशीलन यह बतलाता है कि अधिवर्त

शास्त्रात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेद इन तीन वेदों को ही शिक्षा पाते थे। वेदांग में भी व्याकरण और ज्योतिष का अध्ययन प्रधान हो गया था। अध्ययन के अन्य विषयों में षड्दर्शन का भी अध्ययन अध्यायन हाता था। अमिलेखों में प्रत्येक दर्शन का नाम पृथक्-पृथक् रूप से आया है। रीति, पाल तथा मुनेर के लेखों में दानशाही शास्त्रांग को मोमासा, तर्क तथा वेदान्त का पण्डित माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि षड्दर्शन में भी न्याय, मोमासा तथा वेदान्त का अध्ययन अधिक प्रचलित था। उपवेदों में—गान्धर्व वेद, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद को खर्चा ठिठपुट रूप में मिलता है। आयुर्वेद की शिक्षा पर अधिक और दिया जाता था। धनुर्वेद की शिक्षा सम्भवतः राजकुमारों तक ही सीमित थी, किन्तु साधारण जनता को भी रुचि इस ओर थी। प्रयाग-प्रसिद्धि में परशु-परशु प्रसासितोमर प्रभृति शस्त्रास्त्रों का उल्लेख है। गान्धर्व विद्या का विशेष उन्मूलन गुप्त-काल में हुआ था। प्रयाग स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त गान्धर्व विद्या में नारद और तुम्बुह को लज्जित करने वाला कहा गया है। कुमारगुप्त के मन्दसौर-अमिलेख के अनुसार श्रेणी के लोग अन्य विद्याओं के साथ ही गान्धर्व एव धनुर्विद्या में भी पारंगत थे। अमिलेखों के अध्ययन से चार प्रकार की हुम्नकला का भी ज्ञान होता है। ये चार कलाएँ निम्नलिखित हैं—(१) वास्तुकला (Architecture) (२) तक्षकला (Sculpture) (३) ढालना (Casting) (४) तथा सोदना (Engraving)।

प्राचीन समय के अनगिनत मन्दिर, स्तूप तथा वेदिका वास्तुकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन पर खुदे लेखों के अन्त में कलाकार का नाम भी अंकित है। पारतुजाना तथा हर्ष-शिलालेख में शिल्पियों का उल्लेख है।

अमिलेखों में प्रयुक्त भाषाएँ :—

पाली—प्राचीन समय में बोलचाल की भाषा को ही अमिलेखों में स्थान दिया जाता था, ऐसा अनुमान है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पालि भाषा का नाम आता है। इसी भाषा को बौद्ध धर्म-ग्रन्थ तथा अशोक के अमिलेखों की भाषा मानते हैं। आज से २५०० वर्ष पहले मगध की बोलचाल की भाषा को मागधी कहा जाता था। बुद्ध मगधानु ने इसी जन-भाषा के माध्यम से अपने उपदेशों का प्रचार किया और अशोक ने उसे धर्म-लेखों में स्थान दिया। अशोक के बाद मागधी इस नाम की जगह 'पालि' शब्द का प्रयोग आता है। यद्यपि पालि

भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विवाद है, जो कि भाषा-विद्वानों का विषय है। वरिष्ठ विद्वानों द्वारा अभीष्ट नहीं है, तथापि हमें यह देखना है कि इस भाषा का प्रयोग, जो कि पहले भाषी इस भाषा से प्रसिद्ध थे, अभिलेखों में विद्वानों के अभिलेखों में पाया जाता है।

प्राकृत—अधिकांश के बाद दक्षिण भारत के शान्ति सभ्यता-नरेशों के सभ्यता में प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है। प्राकृत, कर्नाट तथा कर्नाट की प्रसिद्धि प्राकृत में है। सस्कृत के बाद ही प्राकृत का प्रचलन अभिलेखों में हुआ, जो स्थान तथा काल की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहा। यह भी जनसाधारण की बोल-चाल की ही भाषा थी। महान कालों की लेख तथा क्षत्र मुद्रा लेख प्राकृत में ही हैं। उत्तर पश्चिम भारत में अर्धक के दोनों—एहदाय गी तथा मानवेय लेख प्राकृत भाषा में ही लिखे गए थे। उसके बाद भारत में मुसलमानी राजाओं ने निर्देशी होकर भी प्राकृत भाषा की ही व्यवस्था की। निराला का विजय-लेख तथा कर्नाट के सरोवरी में मुद्रालेख प्राकृत में है। गुजरात-राजा भीम कदमि तथा कर्नाट-समूह के राजाओं के लेख प्राकृत में हैं। प्रथम राजा से सस्कृत का भी प्रचार ही चला था, वरिष्ठ के लेख सस्कृत से प्रभावित नजर आते हैं। सखन-सभ्यता के जैन प्रतिमा लेख तथा बामुदेव का मयूर प्रतिमा-लेख सस्कृत-निर्मित प्राकृत भाषा में लिखे हैं।

संस्कृत—अब यह कहा गया है कि प्रथम राजा से ही अभिलेखों में सस्कृत भाषा का प्रचार हो चला था, अब गुजरात-निर्देश सस्कृत में ही है। उसके बाद गुजरात का प्रयोग और मद्रास लेख भी सस्कृत में ही लिखे हैं। दक्षिण में बामुदेव, राष्ट्रकूट तथा चोलवंशी लेख सस्कृत में लिखे हैं। अब यह कहा जा सकता है कि दूसरी सदी से १२ वीं सदी तक अभिलेखों की प्रथा प्रधानतया सस्कृत ही थी। गुजराती मुद्रा-लेख भी अन्वेषित मिले हैं। शक्ति स्पष्ट है कि साधारण जनता सस्कृत से अनभिज्ञ नहीं थी। इस प्रकार विद्वानों-दृष्टि से भाषा ज्ञान भी ही जाता है।

निधियाँ तथा संवत् :—

प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन यह दर्शाता है कि प्रसिद्धि-कार अभिलेखों की सुवर्ण संवत् उनमें निधियों का संकेत बदलते हैं। भारत के विभिन्न

से इतिहास निर्माण में अभिलेखा से पर्याप्त सहायता मिलती है। उनमें तिथियों का उल्लेख दो प्रकार से मिलता है—पहला राज्य वर्ष का उल्लेख तथा दूसरा किसी सबत् से सम्बद्ध का उल्लेख। अशोक के धर्म-लेखों में अभिषेक के आठवें वर्ष, तेरहवें वर्ष, छब्बीसवें वर्ष तथा २७ वें वर्ष का उल्लेख है। मौर्यों के उत्तराधिकारी सातवाहन के लेखा में गौतमी-पुत्र शातकर्णों का अठारहव तथा चौबीसवें वर्ष का उल्लेख इसी प्रकार मध्ययुग के पालवशी अभिलेखों में शासक के राज्य वर्ष के उल्लेख का प्रमाण है। इन तिथियों का किसी सबत् विशेष सम्बन्ध नहीं है।

१२०७५

प्राचीन भारत में दूसरे प्रकार के अभिलेखा में शासक की तिथि किसी न किसी सबत् से अवश्य सम्बद्ध है। अभिलेखों के अध्ययन से प्रधानतया विक्रम-सब्त्, शकसब्त्, गुप्तसब्त् और हर्षसब्त् का पता चलता है। इनमें विक्रम, गुप्त तथा हर्ष-सब्त् भारतीय राजाओं द्वारा तथा शकसब्त् विदेशी शक-आक्रमक द्वारा प्रचलित किया गया था। ईसवी सन् के आरम्भ से शकसब्त् का प्रारम्भ हुआ जिसका सम्बन्ध कुषाण नरेशों के अभिलेखों से स्थापित किया गया। कनिष्क से लेकर वामुदेव तक के लेख एक क्रम से ३ से ४० तिथि से युक्त हैं। महान का जूनागढ़-लेख तथा रुद्रदामन् का जूनागढ़ लेख क्रमशः ४६ वें तथा ७२ वें वर्ष में लिखा गया था। इन सब का सम्बन्ध उसी शकसब्त् से निश्चित किया गया है। गुप्त वंश के लेखों का अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वे लेख गुप्त-वंश से सम्बद्ध थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा-लेख की तिथि ८२ तथा कुमारगुप्त प्रथम के करम-दण्ड-लेख में ११७ तिथि उल्लिखित हैं। मनु-कुमार प्रतिमा-लेख में तिथि ११९ खुदी है जो उसके पुत्र स्कन्दगुप्त की जूनागढ़ प्रशस्ति में १३६, १३७, १३८ इन तिथिया का उल्लेख है। द्वितीय चन्द्रगुप्त का सांची लेख ९३ वर्ष में, इन्दौर ताम्र-पत्र १४६ वर्ष में वैश्यगुप्त का गुणधर ताम्रपत्र १८८ वर्ष में तथा मानुगुप्त का एरण स्तम्भ-लेख १९२ वर्ष में खोदे गये थे। इन तिथियों को राज-वर्ष न मानकर गुप्त-सब्त् से सम्बन्धित माना गया है। हर्षवर्धन के ताम्र-पत्र की तिथियाँ हर्षसब्त् से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य तिथियाँ भी। यहाँ तक कि नेपाल के लेख भी हर्ष-सब्त् से ही सम्बद्ध हैं। अतः अभिलेखों से इतिहास में विवादपस्त तिथियों तथा सबत्तों का भी निर्णय करने में विशेष सहायता मिल जाती है।

अभिलेख लिखने के आधार, स्थान तथा अवसर :—

आधार—प्राचीनकाल में राज्याधिकृत कवियों को राजाओं की प्रशंसा अथवा किसी महत्वपूर्ण घटना के उल्लेख के लिए लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ी। उस समय कागज की क्या बात भोजपत्र या तालपत्र भी आसानी से उपलब्ध नहीं थे। विद्या कण्ठगत थी, अतएव उसके लिखने की जरूरत ही नहीं होती थी किन्तु प्रशस्तियों और मुख्य घटनाओं के प्रचारार्थ उन्हें उत्कीर्ण कराना आवश्यक था। अतः ईसापूर्व सदियों में सर्वप्रथम प्रस्तर-खण्ड और तत्पश्चात् धातुओं को आधार बनाकर लेखों को उत्कीर्ण कराना प्रारम्भ हुआ। साथ ही अन्य उपयोगी वस्तुओं को भी लेख का आधार बनाया गया किन्तु उन सब में प्रस्तर-खण्ड को स्थायी मान कर उसे ही विशेष स्थान मिला। अभिलेखों के आधाररूप में प्रधानतया शिलाखण्ड, स्तम्भ प्रतिमा, स्तूप, अवरोपपत्र गुणा, ताम्रपट्टिका, सिक्के, मुहरें, वेदिका, आयागपट्ट, ईंट तथा मृत्तिका-पात्रों का उपयोग होने लगा।

अभिलेखों के लिए शिलाखण्ड का उपयोग सर्वप्रथम सम्राट् अशोक ने धर्म-लेखों को खुदवाने में किया। उत्तर मौर्यकाल में पुष्यमित्र शुंग का अयोध्या शिलालेख उसके जीवन चरित्र पर प्रकाश डालता है। कुषाण-नरेण तथा गुप्तवर्षा रघुदामन् ने जूनागढ़ लेख में शिलाखण्डों का प्रयोग किया था। गुप्तवर्षा में सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने प्रशस्ति-अवन के लिए शिलाखण्ड को आधार माना। उसी का अनुकरण उनके परवर्ती चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त—आदि राजाओं ने किया।

शिलाखण्ड के बाद प्रस्तर का दूसरा रूप स्तम्भ भी अभिलेख का आधार बना। इसका प्रचलन भी ईसा पूर्व सदियों में ही हो चुका था। जहाँ पर शिलाखण्ड उपलब्ध नहीं थे वहाँ पर स्तम्भों पर ही प्रशस्तियाँ खुदवायी गयीं। प्रस्तर-स्तम्भ का उपयोग सम्राट् अशोक ने तथा गुप्त-नरेण समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने किया था। चौदह शिलालेखों के साथ अशोक के सात स्तम्भ-लेख, समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ-लेख इसके उदाहरण हैं। प्रस्तर-स्तम्भ के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने लौहस्तम्भ का भी उपयोग किया था, जिसका प्रमाण दिल्ली के निकटवर्ती मेहरोली लौह-स्तम्भ लेख है।

छठी सदी के यशोधर्मन् के मन्दसोर-लेख में भी स्तम्भ का ही प्रयोग किया गया है। भागवत धर्म से बौद्ध-धर्म के प्रभावित होने के कारण महायान शाखा में भक्ति भाव से बुद्ध-मूर्ति के पूजन का प्रचार बढ़ा और प्रस्तर के तीसरे रूप प्रतिमा तथा उसकी आधार-शिला पर लेख खुदवाए गये। ईमवी सन् प्रथम नदी में बोधगया की विशाल बुद्ध-मूर्ति तथा मथुरा की प्रतिमाओं के आधार-शिला पर लेख उत्कीर्ण हुए। गुप्त-शासकों के प्रतिमा-लेख भी मिले हैं—मनु-कुमार की बौद्ध-प्रतिमा, द्वितीय कुमारगुप्त तथा आदित्यनेन की बुद्ध तथा सूर्य-मूर्ति की आधार शिला पर लेख खुदे मिले हैं। इसके सिवा मध्यप्रदेश की एरण-प्रतिमा जो कि वराह भगवान् की मूर्ति है, उसमें हूण-राजा तोरमाण का यशोगान अंकित है।

चीनी यात्रियों के उल्लेख से अशोक द्वारा स्तूप बनवाने का निर्देश मिलता है। किसी पात्र में फूल रखकर उस पर अशुद्धाहार या अर्घवृत्ताकार ढाँचा तैयार किया जाता था, उसे ही स्तूप कहा जाता था, जिस पर लेख लिखे जाते थे। महावृत्, अमरावती तथा सांची की स्तूप-वेष्टनी इसके उदाहरण हैं।

स्तूप के भीतर फूल (अवरोप) सोने या कौमती पत्थर के पात्र में रखा जाता था और उस पुष्प-पात्र (अवरोप-पात्र) को प्रस्तर के बक्से में रखा जाता था। कभी-कभी उस प्रस्तर या अवरोप-पात्र के ढक्कन पर भी लेख अंकित होते हैं। उन्हें ही अवरोप-पात्र कहते थे। ऐसे पात्रों पर उपलब्ध-लेख में पीरवा (बस्ती जिला) का पात्र-लेख सबसे प्राचीन है। मथुरा से भी अवरोप-पात्र मिले हैं, जिनपर लेख उत्कीर्ण हैं। बौद्ध-धर्म के अन्वय के कारण निम्नोक्त नगर के निकटवर्ती पर्वतीय गुफाओं में रहने की प्रवृत्ति से गुफा-लेख का प्रारम्भ माना जाता है। पश्चिमी भारत में बौद्धगुफाओं की अधिकता थी, जिनमें नासिक, एलोरा, अजन्ता भाजा, कालें, बन्हेरी आदि गुफाओं में निम्नोक्त का निवास था। उड़ीसा में हाथी गुफालेख में कलिग राजाओं की जीवन-कथाओं का अंकन है। गुप्त-काल में गुहा-निर्माण की कला उत्तम दशा में थी। अश्वमेध द्वितीय का उदयगिरि-गुहा लेख अत्यन्त प्रसिद्ध है। तन्कालीन गुहा-लेखों में सामाजिक, धार्मिक तथा चित्र-कला सम्बन्धी बातों का ज्ञान विशेष रूप से होता है, जिसका उदाहरण अजन्ता और वाग गुहा-लेख हैं।

मध्ययुग में सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने के कारण बौद्ध तथा हिन्दुधर्म में मूर्ति-पूजा की प्राधानता हो गयी और उसके साधन के लिये दान

का महत्त्व बढ गया। अतः जिसे दान दिया जाता था उसका उल्लेख दान-पत्र पर आवश्यक हो गया। इसीलिये ताम्र-पत्र का उपयोग लेख के लिए किया गया, जिस पर आसानी से दावा अपने दान का उल्लेख करके दान-ग्रहीता को दे देता था। ताम्र-पत्रों का प्रचार गुप्त-काल से अधिक हुआ है। ताम्र-पत्र में लेख खुदवाने का यही रहस्य था।

भारतीय इतिहास में सिक्कों पर लेख खुदवाने का सर्वप्रथम प्रयोग यूनानों पासकों ने किया। उन्हीं के अनुकरण पर कुषाण-नरेश तथा गुप्त-सम्राटों ने भी स्वर्ण सिक्कों पर छन्दोबद्ध लेख खुदवाए, जिन पर उन-उन राजाओं के आराध्य देवों की मूर्ति अथवा उनकी बन्दना मिलती है।

इसके अतिरिक्त मुहरा पर भी लेख मिलते हैं। ये मुहर-लेख प्रायः धार्मिक स्थिति पर विशेष प्रकाश डालते हैं। मुद्रा प्रसंग में प्रागैतिहासिक युग के नगर मोहेनजोदरो, हरप्पा से प्राप्त मुहरों से प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन काल में स्तूप के चारों ओर वेदिका बनवाई जाती थी जिस पर लेख खुदवाए जाते थे। इसकी चर्चा स्तूप प्रसंग में आ चुकी है। इसी प्रकार प्राचीन समय में मन्दिर तथा प्रतिमा के नीचे कुछ ईंटों पर लेख खोदे जाते थे, जिनका पता कनिंथम ने लगाया। मथुरा सभ्रहालय में ई० पू० पहली सदी के सुरमित्त ईंटों तथा मिट्टी के पात्रों में छिन्न-भिन्न खुदे लेख मिलते हैं। इस प्रकार अभिलेख लिखने के आधार का सक्षिप्त परिचय मिला है

स्थान :—

यद्यपि अभिलेख कहीं भी खुदवाए जा सकते थे किन्तु उनके स्थान का चुनाव अपना विशेष महत्त्व रखता है। किसी उद्देश्य-विशेष के कारण ही अधिकतर लेख राजधानी, जयस्कन्धावार और प्रधान नगरों में खुदवाये गये थे। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में नगरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था जिनका किसी न किसी प्रकार का स्थानीय अथवा नौगोलिक महत्त्व था। कालान्तर में वही स्थान मास्कुतिक वेद्र बन गया। अभिलेख खुदवाने के विभिन्न स्थानों का अनुशीलन यह उचित करता है कि राजधानी, महत्त्वपूर्ण नगर, तीर्थ स्थान एवं जयस्कन्धावार की ओर पासकों का ध्यान विशेष रूप से रहता था और उन स्थानों पर महत्त्व के अभिलेख भी खुदवाये जाते थे। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद सम्राट् अशोक ने साम्राज्य के विविध तथा बौद्ध-धर्म के

सम्बन्धित स्थानों पर लेख अंकित कराया। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थानों में धर्म-लेख अंकित हुए। सारनाथ (प्रथम प्रवचन-स्थान) बौध्दात्मी (बुद्ध जन्म स्थान) तथा साँची में स्तम्भ-लेख खड़े हैं, जो स्थान-विशेष के चोकर हैं। अशोक ने लेख को धर्म प्रचार का प्रधान माध्यम माना। अठरव प्रधान नगर, राज्य-सीमा तथा धार्मिक केन्द्रों में धर्म लेख अंकित करवाये गये। अशोक के परवर्ती राजाओं ने भी राज्य सीमा पर अभिलेख खुदवाये, जिनमें पल्लव-नरेशों का लक्षद्वीप-लेख, महानगर का जूनागढ़ और नागिक-लेख तथा हद्रदामन का जूनागढ़-लेख प्रसिद्ध हैं।

बौध्दात्मी के सीमा-महत्त्व को समझ कर ही समुद्रगुप्त ने अपनी विजय यात्रा का बर्तन अशोक-स्तम्भ पर लिखवाया होगा क्योंकि उत्तर भारत में दक्षिण भारत तक जाते समय इसी मार्ग में व्यापारी आते जाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि लेख भी उसके उज्जयिनी जाने के समय अंकित किया गया होगा, क्योंकि उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी थी।

प्राचीन समय में मालवा भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह विदिशा तथा उज्जयिनी प्रान्त की राजधानी था। मन्दसौर के अभिलेख इस बात का गवाही है कि राजमार्ग में स्थित होने के कारण वहाँ थैलियों का व्यापार होता था। बेंदालो एक प्रधान नगर तथा सभ का केन्द्र था। इमोलिए विभिन्न कार्यालया की मुहरें वहाँ उपलब्ध हैं। काशी (रातघाट) की मुहरें धार्मिक भाव को लेकर अंकित थीं जिनमें शंभू मठ की झलक मिलती है। इन स्थानों के अतिरिक्त जम्बूद्वीपवासियों (सेनाकैम्पों) में भी लेख अंकित कराने का आदेश दिया जाता था। वह लेख सदा विजय के उपलक्ष्य में ही खुदवाया जाता था। बलभी, बंभोडा, मालिमपुर तथा मुँदर के ताम्रपत्र इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। पुराने समय में जिन स्थानों का कोई साम्प्रतिक महत्त्व था वहाँ पर भी प्रतिमा-स्थानों के समय मूर्तियों को आधार पिला पर लेख अंकित होने से। इन सम्बन्ध में मथुरा तथा मारनाथ के अनेक मूर्ति-लेख प्रकाश में आये हैं। इसी प्रकार नन्दों भी शिक्षा का प्रधान केन्द्र था और वहाँ पर अध्ययन करने के लिये देश विदेश के छात्र आते थे, अतः शैक्षणिक दृष्टि से इस स्थान का अत्यन्त श्रेष्ठ महत्त्व था। वहाँ के लेख शैक्षणिक महत्त्व को ही प्रकाश में लाने के लिये खुदवाये गये थे। इस प्रकार सभों में राजधानी, जम्बूद्वीपवासियों, तीर्थों तथा साम्प्रतिक महत्त्व के स्थानों पर लेख खुदवाये जाते थे।

अक्षर—विचार करने पर लेख उत्कीर्ण कराने के निम्नलिखित अवसरों का उल्लेख मिलता है—(१) दान के अवसर, (२) धार्मिक अवसर, (३) विजय यात्रा, (४) सामाजिक तथा (५) व्यापारिक अवसर पर ।

मौर्यकाल में गया जिले में स्थित 'बराबर' पर्वत का मुहूर्त्त दान के अवसर पर खुदवाए गये लेखों में सबसे प्राचीन है । ईसा पूर्व छठवों में साँची देरिया पर भी उस अर्थ के दानकर्त्ता का नामोल्लेख है । दान के अवसर पर खुदे लेखों में बंगाल के पालनरेश देवनाल का नालश ठाभ्रपत्र विशेष उल्लेखनीय है । दान के अवसर पर लेखों का खुदवाया जाना बहूदायत से हुआ था । इसी प्रकार धार्मिक भावना के कारण भी अशोक के लेखों का तथा अन्य देवमन्दिरों के निर्माण के अवसर पर खुदे लेखों का वर्णन मिलता है ।

प्राचीन भारत में विजय-प्रयाण की समाप्ति पर विजय-विवरण की जानकारी अन्य लोगों को भी हो जाय अतएव उस अवसर पर भी लेख अंकित करवाये जाते थे । इस प्रसंग में प्रयाग म्दम्भलेख, उदयागिरि लेख, ऐहोल-प्रशस्ति, योक्षपुर लेख एवं भोर सप्रहात्म का ठाभ्रपत्र लेख इनमें उल्लेखनीय हैं, चन्द्रगुप्त द्वि०, पुलकेयी द्वि०, प्रतिहार नरेश नोज तथा राष्ट्रकूट भ्रुवराज के विजय वृत्तान्त का वर्णन करते हैं । सामाजिक अवसर पर लेख खुदवाने की परंपरा प्राचीन समय में तो कम थी किन्तु मध्यकालीन अनिलेखों में इसका उल्लेख विशेष रूप से पाया जाता है । गृहदवाल राजा जयचन्द ने राजकुमार के जन्म तथा बूढाकर्म के अवसर पर दान दिया था । इनके अतिरिक्त अनेक त्योहारों पर भी दान देने का तथा उन्हें दानपत्रों पर अंकित कराने का संकेत है । त्योहार के ये अवसर थे—सत्रान्ति, अक्षय तृतीया, रामनवमी, कृष्णष्टमी, एकादशी तथा अधिक मास । नाना-पिता के श्राद्ध के अवसर पर भी दानपत्रों का उल्लेख गृहदवाल तथा बलचुरीनरेशों के लेखों में मिलता है ।

“आश्विनमासे कृष्णशके विनुः सावर्त्तारकश्राद्धे” ।

व्यापारिक अवसरों पर भी लेख खुदवाये जाते थे । मिट्टी की मूर्तियों पर शिल्पियों द्वारा अनेक लेख मिले हैं । बंगाली में ऐसे लेखों की अधिकता है जिन्हें शैली-मुस्को द्वारा व्यवसाय प्रसंग में संवार किया गया था । व्यापार-वृद्धि के लिए ही सिक्के संवार किए जाते थे जिन पर कई उग के मुद्रालेख खुदवाये जाते थे । सिक्कों पर आर्थिक नीति को अपनाने का कारण राजाओं का मान घोषा गया था । मुसलमानी शासकों शकनरेशों और गुरु सम्राटों के सिक्कों पर

पर्वानुक्त शासकों का नाम पाया जाता है। इस प्रकार राज्य की आर्थिक दगा हुआने के लिए कई प्रकार के सिक्के तैयार किये गये। गुप्त युग के पश्चात् संगठित व्यापार न होने के कारण ही सिक्कों पर लेख खुदवाने का प्रचलन रहा। उपरोक्त अवसरों के अतिरिक्त कुछ गौण-अवसर पर भी लेख खुदवाने का रिवाज चल पड़ा था। शक क्षत्रप हर्षदामन् का सुदर्शन शील की मरम्मत कराने के समय का लेख तथा आदित्यसेन का अपसद का लेख इसी कोटि का था। उस समय रानी बौमदेवी ने तालाब खुदवाया था।

अभिलेखों का वर्गीकरण :—

उपसंहार में हम अभिलेखों के सश्लि एवं स्पूल वर्गीकरण का निर्देश करके इस प्राक्कथन को समाप्त कर रहे हैं। अभिलेखों का उपरोक्त परिशीलन उन्हें मुख्य रूप से पाँच भागों में विभक्त करता है—

(१) धार्मिक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें प्रधानतया धार्मिक चर्चा है। उसका लक्ष्य धर्म का प्रचार प्रतीत होता है। अशोक का अभिलेख इसका उदाहरण है।

(२) प्रगंशात्मक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें शासकों की प्रशंसा की गयी है। प्रगाथक का दण्डोपात ही प्रगन्ति का मुख्य उद्देश्य था। प्रयाग प्रगन्ति, मन्दसौर प्रगन्ति एवं ऐहोत प्रगन्ति इसके मुख्य उदाहरण हैं।

(३) स्मारक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें शासक किसी घटना विशेष की स्मृति में खुदवाते थे इस प्रकार के अभिलेखों में अगोक का सुम्बिनी-लेख प्रसिद्ध है।

(४) आज्ञापत्र—ऐसे लेख जिन पर शासक अपनी आज्ञाओं को अंकित कराते थे। दामोदरपुर तथा नानंदा के शासनपत्र इसके उदाहरण हैं।

(५) दानपत्र—ऐसे लेख जिन पर दाता दान-ग्रहीता के नाम का निर्देश कर दानवस्तु को अंकित कराते थे। ऐसे लेखों में 'शरावर' का गुहानेख महत्वपूर्ण है।

आता है ये अभिलेख पाठकों के समझ क्षत्री गौरवगापा बहु करने में समर्थ हो सकेंगे।

महामना शती सनारोह

२५ दिसम्बर १९६१-६२

—शा-बन्धु

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

(१) गिरिनगरे रुद्रदाम्नः प्रस्तराऽभिलेखः

मिद्धम् । इदं तडाकं मुद्रांनं गिरिनगरात् [पि ३] र
 मृत्तिकोपनिष्ठागामोच्छ्रयति मन्त्रिवद्धदृष्टमर्वपात्नीकत्वान्पर्वतपादप्रति-
 स्पर्शिनुस्त्रिष्टब्धं वजातनाहृत्त्रिमेग सेनुवन्नेनोपपन्नं मुप्रतिविहितप्रगाली-
 परोवाहनोडविधानं च त्रिस्त्वर्थं नादिभिरनुग्रहैर्महत्सुपचये वनते ।

मिद्धि हो । गिरिनगर (आधुनिक जूनागड) के समीप मिट्टी और पाषाण-
 षट्ठों की चौटाई, सम्बाई और ऊँचाई से बिना जोड़ की बंधी हुई अत्र एव
 मन्त्रवृत्त बन्ध-यक्तिमा के कारण हड्डता में पर्वत के समीपवर्ती छोटी पहाडिया के
 साप स्पर्श करने वाला, ठोस, स्वभावतः विगल बांध से युक्त, समुचित रूप
 से बने हुए जल के निकलने के लिए छोटी नाली, बड़े हुए जल को निकालने के
 लिये बड़े नाने और गन्दगी में बचने के उपाय से युक्त, तीन भागों में विभक्त,
 और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था से सम्पन्न मुद्रांनं नाम का यह शील इस
 समय बहो अच्छी दशा में है ।

तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य मुगुहीतनाम्न स्वामिचष्टनस्य पौत्र [स्य]
 [राज्ञः क्षत्रपस्य मुगुहीतनाम्न. स्वामिजयदाम्न पुत्रस्य] राज्ञो महा-
 क्षत्रपस्य गुहभिरन्वयन्नाम्नो रुद्रदाम्नो वर्षे द्विमतन्निमे ७२ मार्गशीर्षे
 बहुप्रति [पदाया] ...मृष्टवृष्टिना पर्जन्येन एकार्णवभूतायामित्र पृथिव्या
 कृताया गिरेःश्रंयतः सुवगसिकृतादशानिनीप्रनृतीना नदीनामतिमात्रोद्-
 वृत्तेवैगे सेनुम... [कि] यमानानुरूपप्रतिकारमपि गिरिगिन्वरतस्त-
 टाट्टान्कोपनन्वद्वारशरणोच्छ्रयविध्वसिना युगनिघनमदृशपरमघोरवेगेन
 वायुना प्रमथितसलिलविसिद्धज्वरोकृताव [यव] सिमासमवृक्षगुन्मन्त्रा-
 प्रानामा नदीतलादित्युद्घाटितमासीत् । चत्वारिहस्तशतानि विशदुत्त-

राष्यायतेन एतावन्त्येव विस्तीर्णैः पञ्चसप्ततिहस्तानवगाढेन भेदेन निम्नतः सर्वतोय मरुधन्वत्पमतिभूय दुर्दं [संनमासीत् ।]

प्रातः स्मरणीय महासत्रप राजा चह्न के पौत्र, प्रातः स्मरणीय सत्रप राजा जयदामन् के पुत्र, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा सतत स्मरणीय नामवाले महासत्रप रद्रामन् के बहत्तरवें वर्ष में अग्रहण महोत्सव के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को घनघोर वर्षा हुई, जिससे समस्त पृथ्वी मानो समुद्र के समान प्रतीत होने लगी, फलस्वरूप 'ऊर्जयन्' नाम के पर्वत से निकलने वाली 'सुवर्णसिक्ता' एवं 'पलाशिनी' प्रभृति नदियों में बड़ी तेज की बाढ़ आ गई, उसके बाद सुदर्शन झील के बांध को बचाने के लिये अनुकूल उपाय किये जाने पर भी, पर्वत की चोटियों, वृक्षों, तटों धटारियों, मकानों के ऊपरी तलों, दरवाजों और बचाव के लिये बनाने गये ऊँचे-ऊँचे स्थानों को विनष्ट कर देनेवाले तथा प्रलयकालीन प्रमजन के समान प्रचण्ड वेगवाले पवन से विलोडित जल के विक्रम से ज्वरंभीभूत तथा पत्थरों, वृक्षों, क्षादियों और लताओं के फूँके जाने से दुग्ध वह सुदर्शन झील पलाशिनी प्रभृति उपयुक्त नदियों के प्रबल वेग से नदी की तलहटी तक उछाड़ दिया गया। वहाँ ४२० हाथ लम्बी, ४२० हाथ चौड़ी और ७५ हाथ गहरी दरार पड़ जाने के कारण झील का सारा पानी वह गया। फलस्वरूप, वह सुदर्शन देखने में रेगिस्तान के समान बहुत ही बीभत्स हो गया।

[तदिदं जनपद] स्याथै मौर्यस्य राज्ञ चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकस्य मौर्यस्य [कृ] तै यवनराजेन तुपास्केनाधिष्टाय प्रणालीभिरलङ्कृतं तत्कारितया च राजानुरूपकृत्विधानया तस्मिन् भेदे दृष्टया प्रणाड्या विस्तृतसेतु ... ।

जनपद के कल्याण के लिये मौर्यवंशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक वैश्यजातीय पुष्यगुप्त ने सर्वप्रथम सुदर्शन नाम के इस झील का निर्माण करवाया था, उसके बाद मौर्यवंशी राजा अशोक के लिये सुराष्ट्र प्रान्तीय यवन शासक तुपास्क ने उस सुदर्शन झील को छोटी-बड़ी नालियाँ से सुशोभित कर दिया, दरार पड़ने के बाद दीख पड़नेवाली, राजोचित सुरक्षा व्यवस्था से सम्पन्न और तुपास्क के द्वारा निर्मित उन्हीं नालियों से युक्त विनाल बांध (बाले भग्न सुदर्शन झील को रद्रामन् ने फिर से दुस्त कर दिया—बागे से सम्बन्ध ।)

• ...णा गभार्तिप्रभृत्यविहृतसमुदितराजलक्ष्मीधारणागुणतः सर्ववर्णैः-

मिगम्य रक्षगार्यं पतिन्वे वृनेना प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्तिकृन्मत्य-
प्रतिज्ञेनान्यत्र समामेष्मभिमुवागन्मदृशशत्रुप्रहरणविनरणवाविगुणरिपु

धूनकार्त्स्न्येन स्वयमभिननजनपदप्रणिरतिनापुत्रशरणदेन दम्प्युत्पालमृगरो
गादिमिरनुपपृष्टूर्वनगरनिगमत्रनदाना वायाजितानामनुरकपर्वत्रकनोना
पूर्वारराकरावन्त्यनूननीवृशानतंसुराष्ट्रधममरुकच्छसिन्धुमीवीरकुहुरापरात्न
निशादादीना समग्राणा तत्प्रभावाद्य [यथावदन्नासधर्मा] थं काम
विश्याणा विश्याणा पया सर्वसत्राविष्कृन्वीरशब्दजातोत्सेकविधेयाना
पौरैयाना प्रसहोत्नादकेन दक्षिणापथयते सातकर्णोद्विरपि निर्व्याजमव-
जित्यावजिन्य सम्ब्रन्धाविदूरनयानुदनात्प्राप्तयशमा मा

जन्म से ही अवाध रूप में प्राप्त राजलक्ष्मी के धारणात्मक गुणों के कारण
अपनी रक्षा के लिए समीप पहुँच कर सभी जानि के लोगों न जिसको अपना
राजा बनाया था, युद्धभूमि के अतिरिक्त आजीवन मनुष्य हिंसा नहीं करने की
अपनी दृढ प्रतिज्ञा को जिसने खरितार्थ किया था, समरभूमि में उपस्थित समरुक्ष
दन्तुश्री को जो अपने बाणों का लक्ष्य और दुर्बल दन्तुश्री को अपनी दया का पात्र
बनाता था, अपने उपस्थित अवनत जनसमूह को जो दीर्घ जीवन और अमयदान
देश था, खोर-डाकू, हिंसकजन्तु, जगली जानवर और नानाविध रोग आदि से
सबंदा अनाक्रान्त रहनेवाले जनसमुदाय से मुक्त 'स्थानीय स्वशासन संस्थाओं'
से सम्पन्न नगरोंवाले, अपने पराक्रम से उपलब्ध और राज्य के प्रति निष्ठावान्
मन्त्रियोंवाले, सन्तुलित रूप से धर्म, अर्थ और काम आदि त्रिवर्गों का सम्पादन
करने वाले—पूर्वी मालव, पश्चिमी मालव धनूप जनपद, उत्तरी काठियावाड,
दक्षिणी काठियावाड, साबरमती नदी के समीपवर्ती प्रदेश, मारवाड, कच्छ,
पश्चिमी सिन्ध, पूर्वी सिन्ध, दक्षिणी काठियावाड और उत्तरी कोंकण के बीच का
प्रदेश, उत्तरी कोंकण, पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाड़ी भूमि, प्रभृति
सभी प्रांतों का जो राजा था, सभी क्षत्रियों में प्रख्यात "खोर" शब्द से उत्पन्न
अभिमान के कारण स्वन्न होकर रहने वाले "यौधेय" सजक लडाकू क्षत्रियों को
बलपूर्वक जिसने उसाड कर फेंक दिया, दक्षिणीभारत के राजा सातकर्ण को
सुले मंदान में दो-दो बार जीतकर भी निकटतम सम्बन्ध के कारण मुक्त कर
देने से जिसने कोटि को प्राप्त किया ।

[प्रा]मविजयेन भ्रष्टराजप्रतिष्ठापकेन ययायंहृम्नोच्छ्वाजितोजिन-
धर्मानुरोगेण शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महनेना पारणारण-

विज्ञानप्रयोगावाप्तविभुलकीर्तिना तुरगगद्गदरश्चभोमिचर्मनिमुद्धादा...
 निपरवश्याधवमोष्ठवक्रियेण अहरहदानिमानादवमानशीलेन स्थूलक्षेत्र
 मयावत्प्रार्थनंलिङ्गत्वभागं. वनकरजनदं दूधंरनोपचयद्विपन्दनानकरीने ।

जिज्ञेसे सर्वदा सर्वत्र विजय को ही प्राप्त किया, राज्यच्युत राजाओं को जिज्ञेसे
 फिर से प्रतिष्ठित कर दिया, न्याय के आसन से हाथ उठा-उठाकर मनुष्य
 निर्णय देते रहने के कारण जिज्ञेसे धर्म के प्रति अपन महात् अनुराग का उपादान
 किया, व्याकरण, राजनीति, संगीत एवं तर्क आदि विज्ञान एवं गूढ़ शास्त्रों के
 अध्ययन, स्मरण, सम्पत्क अनुभूति और व्यवहार से जिज्ञेसे प्रभूत दम को प्राप्त
 किया घोट, हाथी और रथ के चलान तथा डाल और तन्वाग के युद्ध में जो
 अत्यधिक साहस, सूक्ति और सज्जा दिखाता था जो दिन-रात शान और नाद
 के नियम में सर्वथा उदात्तभाव से सजग रहता था मनुष्य रथ में मिलनेवाली
 मालगुजारी और चुगी के कारण नौसे चौकी हरे रंग के बंदूक मणि और ग्लों
 की डेर से जिसका बगाना भरपूर था ।

स्फुटलघुमधुरचित्रजान्मनादसमनोदासालङ्कृतगद्यपद्य . न प्रमाण-
 मानोन्मानन्वरगतिवर्णमारुतत्वादिभिः पञ्चमलक्षणव्यञ्जनैरेतवान्मूर्तिना
 स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यान्वयवराणेकमान्प्रजातदाम्ना

स्फुट (अर्धव्यक्ति) लघु (प्रसाद), मधुर (माधुर्य), चित्र (बोज),
 बान्त (बान्ति) प्रभृति शब्द-समय (शब्द मयित = भाष्यगुणों) से प्राम्द और
 कलकारों से मुक्त गद्यरचानक भाष्य-रचना में निरूपण शैलिक गुणों से, यथोचित
 चौदाई, लम्बाई, ऊँचाई, बोलने का स्वर, चलने की गति, शरीर के रंग, बल,
 आदि शारीरिक गुणों से, तथा चन्द्रदन्व्य आदि के छोड़कर शब्द-चक्र आदि के
 चिह्नों से जिसकी आकृति चमक रही थी, बीरतापूर्ण भावों में जिज्ञेसे स्वयं
 "महाक्षत्रप" उपाधि को धारण किया और जिज्ञेसे राजकुमारियों के स्वन्दर
 में अनेक उद्यमालों का रूप लेगाया था ।

महाक्षत्रपेण रुद्रदान्ना वर्षमह्नाय गोदाहाय... धं धर्मधीनिवृद्धधर्म
 चापीडयिन्वा करदिष्टिप्रणय्यक्रियाभिः पीरजानवद जन स्वन्मात्रोगाग्मह-
 ताधनीनेनाननिमहता च बालेन त्रिगुणदृष्टनरविम्भारामान सेनु विधाय...
 ...[मु] दर्शनतर वाग्निमिति ।

इत उपर्युक्त गुणों से कलहृत महाक्षत्रप रुद्रदान् ने हजारों वर्ष तक बाद

और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए, पुत्र्य और यश की वृद्धि के लिए नगरवामी और ग्रामवासी प्रजाजनों को कर, बेगारी और भेंट आदि से बिना पीड़ित किये ही, अपने राज-बीज को अपार धन राशि के द्रव्य से घोट ही समय में, पहले की अंगमा त्रिगुणे लम्बे-चोड़े और सुदृढ़ बाँध बँधवा कर उस मुदर्शन को और अधिक सुन्दर बनवा दिया ।

अस्मिन्नये महाक्षत्रपस्य मनिमच्चिवकर्ममच्चिवैरमात्यगुणममुद्धतैरप्यनि-
महत्वाद्भेदस्यानुष्माहविमुत्तमनिभि प्रख्यातारम्भ पुनमेतुबन्वनेरा-
स्याद्वाहानूतानु प्रजाम्बिहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहायं पार्थिवेन
कृन्नानामाननंमुराष्ट्राणा पालनार्य निपुत्तेन पल्लवेन कुल्पेपुत्रेणामात्येन
सुविशाखेन ।

इस विषय में यह स्मरणीय है कि—शोल के दरार की विशालता को देखकर महाभयंकर रुद्रदामन के सचिवोचित समस्त गुणों से युक्त मनिमच्चिव और कर्मसचिवों ने मान मुदर्शन शोल के जीर्णोद्धार कार्य के प्रति अपनी असाह्य प्रति प्रकट कर दी । इससे बाँध के फिर से बाँध जाने की आशा टूट गई और प्रजा बाहि बाहि करने लगी । तब अपने शासन में प्रजा के हित को ध्यान में रखकर राजा रुद्रदामन ने समस्त आनत और मुराष्ट्र प्रदेश के राज्यपाल के रूप में 'पल्लव-कुल्ले' का पुत्र अमात्य 'सुविशाख' को नियुक्त किया ।

यथावदर्थधर्मव्यवहारदर्शनेरनुरागमभिवर्द्धयना शक्तेन दान्तेनाचपलेना-
विस्मितेनार्येण स्वधिष्ठिना धर्मकीर्तिपगामि भर्तुरभिवर्द्धयनानुष्ठितमिति ॥

धर्म-अर्थ और व्यवहार के समुचित निरीक्षण से प्रजा के अनुराग को बढ़ाने वाले, शक्तिशाली, सयमी, स्थिर, निरमिमानों, धार्योचित गुणों से सम्पन्न और अपने कर्तव्य से कभी नहीं हटनेवाले अमात्य सुविशाख ने एक सफल शासन के रूप में अपने स्वामी के धर्म, कीर्ति और यश को बढ़ाने के लिये मुदर्शन शोल के बाँध को बँधवा दिया ।

अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

अभिलेख का विषय—मुराष्ट्र प्रान्त में 'गिरिनगर' नाम का एक स्थान था, जिसे आब्रहम जुनागड कहा जाता है । वही पर पर्वतप्रान्त में एक प्रस्तर-खण्ड पर उभाड़ खण्ड के धर्मोद्देश्य खुदे हैं । उन्ही प्रस्तर-खण्ड के नीचे के

हिस्ते में महास्यम रद्दामन् का यह उल्लिख भी उत्कीर्ण है। नौवें सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा सिन्धु की दृष्टि से बनवाना गया, जुनापुर में स्थित, सुन्दर शील के टूटने और रद्दामन् के एक प्रयासक के द्वारा उस शील के बाँध के पुनर्निर्माण की घटना से सम्बन्धित यह उल्लिख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्व का है।

समय—इस उल्लिख का समय उत्कीर्ण वर्ष सन्ना “बर्ष द्विसहस्रद्विने” के आधार पर एक सन् ७२ अर्थात् १५० ई० माना गया है। साधारणतः सभी ऐतिहासिक इसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी या मध्यभाग ही मानते हैं।

जुनापुर का यह उल्लिख उत्कीर्ण के महास्यम रद्दामन् के इतिहास निर्माण का प्रधान साधन है। इसके द्वारा रद्दामन् की सैनिक सफलताओं, उसका साम्राज्य-विस्तार, शासनबन्ध और उसके व्यक्तिपर परमार्थ-प्रकाश परता है।

परिचय—रद्दामन् भारत में विदेशी आक्रमण करनेवाले राजाओं में एकराष्ट्रीय राजाओं का वर्य था। एकराष्ट्रीय प्रयासक क्षमता और महास्यम कहलाते थे। डॉ० रमाधर त्रिपाठी ने ‘स्यम’ शब्द को फारसी के ‘स्यमवन्’ शब्द का संस्कृत रूपान्तर माना है, जिसका अर्थ—‘भारत का रक्षक’ होता है। ‘स्यम’ उपाधिधारण एक राजा लोग भारत के उत्तर-पश्चिम, मध्य, महापट्ट और उत्तर में राज्य करते थे। इन स्यम राजाओं का आरम्भ भारत के प्रथम एकविधता ‘माठस’ से माना जाता है। ‘माठस’ का शासनकाल ‘स्टेनबोरी’ के अनुसार ई० सन् १० वर्ष पूर्व माना जाता है।

रद्दामन् का सम्बन्ध उत्कीर्ण के स्यमों से था। उत्कीर्ण के स्यम राजवंश का प्रथम उल्लिख ‘मण्डवित्र’ था, जो उनका ‘महान’ नामक सहायक राजा का वर्य था। इसी मण्डवित्र का पुत्र ‘स्यम’ उत्कीर्ण का प्रथम एक राजा बना; जिसने पहले ‘स्यम’ के पद से शासन किया, किन्तु बाद में ‘महान-स्यम’ बन गया।

महास्यम रद्दामन् स्यमराजा ‘जयस्यमन्’ का पुत्र और महास्यम स्यम का पौत्र था। शिलालेख (पृ० १, प० १३) में इस बात का इस प्रकार उल्लिख है :—

“राज्ञो महास्यमस्य.....रद्दामन्:.....।”

जहाँ तक इसके हाथ में शासन-मूत्र के जाने की बात है, उसका स्पष्ट संकेत होने अमिलेख (पृ. २, पं० २९-पृ ३ पं० १) में आये "सर्वैर्वर्णैरभिगम्यर क्षणार्थं पत्रिन्वेन वृत्तेन" से मिल जाता है कि समा जातिगों के लोगों ने इसे अपना रक्षक चुना था। इससे यह प्रतीत होता है कि छद्मनाम को शासक चुना गया था। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्षत्रियों के शासन में महाक्षत्र, क्षत्र के साथ-साथ शासन करता था और यह क्षत्र साधारणतया उसका पुत्र होता था और उचित समय पाकर महाक्षत्र भी हो जाता था। 'अमिलेख' के अमिलेख में १३० ई० में छद्मनाम के साथ चहन के सम्मिलित शासन करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि महाक्षत्र चहन अपने पुत्र क्षत्र जयदामन् को सहायता से शासनकार्य चलाता था किन्तु जयदामन् की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण चहन ने शकप्रपा के अनुकूल अपने पौत्र छद्मनाम को युवराज्य देकर अपने सहायक के रूप में क्षत्र नियुक्त किया और उसकी सहायता से राज्यसंभालन करने लगा। अमिलेख के उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि सभी लोगों ने चहन द्वारा नियुक्त छद्मनाम का, अपने रक्षक के रूप में, उसके राजोचित गुणों के कारण समर्पण किया और किसी ने भी इसका विरोध नहीं किया।

युद्ध और विजय—जयदामन् की मृत्यु के बाद चहन के राज्य का उत्तराधिकारी उसका पौत्र छद्मनाम उज्जैन का प्रमुख एक क्षत्र राजा हुआ। अमिलेख की त्रिपि ७२ तक सबूत से उसका राज्यकाल १५० ई० के आसपास निश्चित किया गया है। अमिलेख (पृ० ४, पं० १४) के—'स्वयमधिगत-महाक्षत्रनाम्ना' इस लेख से प्रकट होता है कि अपने शासन के प्रारम्भ में अर्थात् जब वह चहन के साथ मिलकर शासन कर रहा था तब वह केवल 'क्षत्र' ही था। किन्तु अपने स्वतंत्र शासनकाल में उसने स्वतः ही "महाक्षत्र" उपाधि को धारण किया। इससे उसके दिग्विजय और उसके द्वारा अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त "महाक्षत्र" होने की बात प्रकट होती है। डॉ० राय बीधरी ने अपने स्वतः 'महाक्षत्र' होने में एक दूसरे तथ्य का निर्देश किया है। 'स्वयमधिगतमहाक्षत्रनाम्ना' (पृ० ४, पं० १४) में उन्होंने यह अनुमान लगाया है कि छद्मनाम के राजकुल की राजप्री को कुछ समय के लिये किसी शत्रु ने सम्भवतः गौतमपुत्र ने विजुम्ब कर दिया था, जिसे उसने पुनः प्रतिष्ठित कर 'महाक्षत्र' की पदवी धारण की—

"This probably indicate that the power of his house had been shaken by some enemy (Possibly Gautamsputra, and he had to restore the supreme Ksatrapa's dignity by his own powers"—Dr H C Roy Chaudhary

अभिलेख (पृष्ठ ३, पं० ९-१०) के 'दक्षिणापरवै ... प्राहययत्ता'—से यह ज्ञात होता है कि रद्रदामन् ने दक्षिणापरवै के राजा सातकर्णी को दो बार पराजित किया था। किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसे क्षमा प्रदान कर यशोराजन किया था। ऐतिहासिक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सातवाहन-वंश में सातकर्णी नाम के कई राजे थे। इस अभिलेख का सातकर्णी सातवाहन-वंश का कौन सातकर्णी है, इस विषय में विभिन्न विद्वानों का अपना-अपना अलग मत है। डॉ० डी० सी० सरकार व मनानुमार यह सातकर्णी स्वयं गौतमीयुत्र सातकर्णी है, जिसका पुत्र वासिष्ठीयुत्र सातकर्णी रद्रदामन् का दामाद था। डॉ० रंजन के मतानुसार एकशासन द्वारा पराजित सातवाहन नृपति पुल्लुमावि था जो कि वासिष्ठीयुत्र सातकर्णी का भाई और उत्तराधिकारी था। डॉ० वार० सी० नडारकर ने इसे यशधी सातकर्णी माना है और रद्रदामन् को बन्धा का विवाह चतुर्षण सातकर्णी से होना प्रकट किया है। श्री नीलकण्ठ शास्त्री और राजगोपालाचारी ने इसे बन्धरी अभिलेख में उल्लिखित वासिष्ठीयुत्र सातकर्णी माना है। डॉ० अल्लकर ने श्री इन्हें बन्धरी अभिलेख का वासिष्ठीयुत्र सातकर्णी ही स्वीकार किया है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी और एन० एन० घोष भी इसे वासिष्ठीयुत्र सातकर्णी ही मानते हैं। अब यही मत सर्वाधिक मान्य हो चला है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि महाशत्रुप चण्डन के राज्यकाल के अन्तिम भाग में अथवा उसकी मृत्यु के बाद उज्जैन के शक सशर्षों की राज्यसक्ति गौतमीयुत्र सातकर्णी और उसके पुत्र वासिष्ठीयुत्र पुल्लुमावि के प्रभाव के बढ़ जाने से अल्पवस्थित हो गयी थी। इसीलिये रद्रदामन् को सातवाहनों के साथ घोर युद्ध करना पड़ा था और उन्हें पराजित कर वह पुनः अपने वंश की राज्यसक्ति का प्रतिष्ठित कर सका था।

अभिलेख (पृष्ठ ३, पं० ८-९) के वीरशब्द ... "उत्सादनेन" इस वाक्यांश में स्वामिमानों एवं वीर योधियों के साथ रद्रदामन् के युद्ध का तथा योधियों को पराजित करने का उल्लेख किया गया है। समस्त योधियोगियों का साम्राज्य सतलुज के तटपर और मरठपुर स्टेट के विजयगढ़ क्षेत्र तक विस्तृत था। पूर्वी पंजाब में उनका योधियोग था जहाँ उनके गण मानों से युक्त अनेक

(१२) अपरान्त—उत्तरी कोंकण, जिसकी राजधानी शूरपारक थी ।

(१३) निपाद—संभवतः पश्चिमी विन्ध्य और सरस्वती नदी प्रदेश इसके अन्तर्गत आते थे । इसका उल्लेख महाभारत में भी मिलता है ।

उपरोक्त प्रदेशों पर रद्रदामन् का आधिपत्य था, इस बात का सबैत टी मिलता है किन्तु अग्निनेख से इस बात पर कोई प्रमाण नहीं पड़ता है कि रद्रदामन् ने इस राज्यों को सब जीता था । संभवतः मुराट्ट, कुडुर तथा अनरान्त गौतमीपुत्र के अधीन थे । अतः रद्रदामन् ने गौतमीपुत्र अथवा उसके पुत्र पुलनावि से ही इन तीनों प्रान्तों को जीता था । रद्रदामन् के द्वारा सिन्धु-सौवीर, के प्रदेशों पर विजय प्राप्त करना इस बात का टीतक है कि उसे कृपापदयो कनिष्क के उत्तराधिकारियों से भी लोहा लेना पड़ा होगा और उन्हें परान्त करके ही उन राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने में वह सफल हुआ होगा ।

अग्निनेख (पृ० ३, प० २९) के “अष्टराज्यमतिष्ठानकेन” इस कथन की तुलना गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की राज्यविजय सम्बन्धी उस नीति से की जा सकती है जिसके अन्तर्गत वह विजित राज्यों को उन्हीं के शासकों को पुनः लौटा देता था, किन्तु वे शासक निश्चित रूप से मोंट देकर अपने आदमी उनके अधीन मानते थे । रंप्सन ने इसका यह अर्थ समझा है कि जो प्रादेशिक शासक महान के अधीन थे, उन्हें सातवहनवटी गौतमीपुत्र ने नष्ट कर दिया था किन्तु रद्रदामन् ने पुनः उन्हें अपने-अपने राज्यों में प्रतिष्ठित कर दिया । इस प्रकार हम देखते हैं कि रद्रदामन् ने अपने शासन के उत्पत्तकाल में ही अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त कर साम्राज्य को पूर्णतया व्यवस्थित कर लिया था ।

शासन व्यवस्था—रद्रदामन् एक महान् योद्धा और विजेता ही नहीं था बरन् एक सफल और योग्य शासक भी था । अग्निनेख में यत्र-तत्र पाये जाने वाले चस्केषों से उसके मुख्यवर्षित शासन-व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है—

(१) रद्रदामन् का समस्त साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई प्रान्तों में बाँटा हुआ था । उसकी राजधानी उज्जैन थी, जहाँ से समस्त साम्राज्य का शासन-सूत्र संचालित होता था ।

इस प्रकार के शासन-व्यवस्था का सबैत हमें टिलानेख (पृ० ५, प० ८) के “वीरवानपदवजानानुपहारं पादिवेन” इस वाक्यात् से मिलता है, जिसमें

रुद्रदामन के द्वारा आनतं औड सुराष्ट्र प्रान्त के शासक के रूप में नियुक्त सुविद्यास के द्वारा मुद्रचंन शील के सस्कार की घटना का उल्लेख किया गया है ।

(२) शासन को सुष्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये उसने कई अमात्यों की नियुक्ति की थी । वे अमात्य दो प्रकार के हाते थे—एक मतिसचिव, और दूसरा कर्मसचिव । मतिसचिव राजा को सलाह देते थे और कर्मसचिव राज्य योजना को कार्यरूप में परिणत करते थे । इसका उल्लेख, अभिलेख (पृ० ५ के प० ६), में है—“मतिसचिवकर्मसचिवे अमात्यगुणसमुद्युतं ।”

(३) यद्यपि शासन की सबसे छोटी इकाई का निश्चित स्वरूप क्या था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी नगर निगम, जनपद तथा पौरजानपद का उल्लेख अवश्य किया गया है (अभिलेख पृ० ३ प० ४) ।

(४) रुद्रदामन के शासन की कर-व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और उदार थी । वह प्रजा से विरोध कर नहीं वसूल करता था । उस समय के स्वामाविक दण्डों अनिवार्य अथवा ‘मामान्य कर’ और विरोध कर’ के प्रकारों का उल्लेख अभिलेख (पृ० ४, प० ३) में किया गया है—“यथावत्प्रार्थं बलिशुल्कमार्गं” ।

इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि ‘बलि शुल्क’ और ‘भाग’ वास्तविक या सामान्य कर थे जो प्रजाओं को देना पड़ता था । विष्टि’ और ‘प्रणय’ विरोध कर के अन्तर्गत थे ।

व्यक्तित्व—अभिलेख से रुद्रदामन के व्यक्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है । यह केवल एक विजेता और शासक ही नहीं था प्रत्युत जनता के सुख-दुःख में भाग लेने वाला बड़ा ही दयालु प्रजापालक भी था । रुद्रदामन को इस बात का गर्व था कि उसने प्रजाओं से किसी भी प्रकार का कर बिना लिये ही अपने राज्यकोष के व्यय से मुद्रचंन शील का जीर्णोद्धार कराया था ।

मुद्रचंन शील का सस्कार कराना रुद्रदामन के राज्य की महत्त्वपूर्ण घटना थी । उस शील का संक्षिप्त इतिहास निम्नलिखित है —

जुनागड सर्वप्रथम मोर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को आज्ञा से उसके प्रान्तीय शासक वेदय पुष्यगुप्त ने सिंचाई की दृष्टि से एक पर्वतीय नदी के जल को लेकर एक शील का निर्माण कराया । अजोक के प्रान्तीय यवन शासक गुप्तासक ने उससे नहरें निकलवायीं । उस शील का नाम मुद्रचंन था । रुद्रदामन के समय (१५० ई०) में ऊर्जम्ब पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिन्धुता और पश्चिमिनी नाम की

नदियों में बाढ़ आने और प्रदल तूफान के कारण इस झील का बाँध टूट गया। प्रजा में हाहाकार मच गया और सभी विनशावस्था में पड़ गये।

इन्द्रात्मन् ने प्रजा की मलाई को ध्यान में रख कर अपने मंत्रियों के विरोध करने पर भी प्रान्तीय शासक सुविद्यान्व के द्वारा अपने राज्यकोष में इतना पुनर्निर्माण करवाया। सुदर्शन झील के पुन संस्कार सम्बन्धी इस पवित्र घटना के उत्प्रेष से यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि वह प्रजापालन, प्रजासुख और प्रजाव्ययन के कर्तव्यों को निभाने वाला एक सफल लोकप्रिय शासक था।

उसकी अर्चय भावना बड़ी ही दृढ़ थी। उसके पवित्र निदर्शन को उसके मंत्री भी नहीं दिगा सकते थे, जैसा कि (पृ० ५, पं० ७) में उल्लिखित है— 'विमुद्यमतिभिः प्रसरातारम्भम्'। प्रजा के प्रति इतना अनुराग था कि झील के बाँध के टूट जाने पर उसके सस्कार कराने के लिये उसने प्रजा से बिना किसी प्रकार का विरोध कर लिये ही अपने राज्यकोष के श्रेष्ठों का ही उपयोग किया (दे० पृ० ४, पं० २७) "स्वस्मात् कोशात्"।

उसमें प्रशासकीय गुणों की सना पर्याप्त मात्रा में दिखाना थी। इसीलिये वह अग्निवेश के (पृ० २, पं० २९-पृ० ३५ १) 'सर्ववर्षरामिगन्ध रक्षणार्थं पटित्वेन वृत्तेन' के अनुसार सभी शक्तिपों के लोगों के द्वारा सहर्ष अपना रक्षण चुन लिया गया था। उसने न केवल प्रशासकीय गुण ही थे अस्तित्व वह सभी प्रकार के शास्त्रों के ज्ञान में निपुण और विद्विष्ट समीकृत भी था। वह गद्य और पद्य दोनों प्रकार की काव्य रचना में निपुण और प्रजा की सुसुविध स्थापन देनेवाला था। जिसकी अभिव्यक्ति अग्निवेश (पृ० ३, पं० २९) की "ददायै-हस्तोन्मृदापात्रोद्विष्ट" से होती है। वह एक सम्राट् के लक्षणों में भी युक्त था—'परमत्क्षणम्यज्जनैरनेतवान्द्रुतिना' (पृ० ४, पं० १५)। इतना ही नहीं बल्कि उसके शासन की सुसंस्कृत अवस्था और उसके उदार-हृदय की दृश्यप्रतिष्ठा का परिचय तो हमें तब मिलता है जब उसने यह धन्य ले रखा था कि सुदृग्नि के अतिरिक्त अन्यत्र कभी भी यह नर-रुत्या नहीं करेगा (देहिदे, अग्निवेश पृ० ३, पं० २-३) इसका उसने न केवल अपने ही जीवन में बल्कि प्रजावर्ग में भी निर्वाह किया।

इसके अतिरिक्त उसके सुसंस्कृत सत्य धरित की सबसे बड़ी विशेषता थी—संस्कृत के प्रति उसकी अनुरक्ति। वह एक दिवसी एक बंधन होकर भी संस्कृत भाषा का पोषक था, यह कि उसके पूर्वजों और उपासीत सभी भारतीय

उत्तरा गानो तथा प्राकृत भाषा को अधिक प्रश्रय दे रहे थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के उन्नायक राजाओं में रुद्रदामन् का स्थान चिरस्मरणीय रहेगा। यह निर्विवाद है कि रुद्रदामन् नारदाय शक-शासकी में महात् पा।

अभिलेख की साहित्यिक विशेषतायें

परिचय—यह महाशत्रुप रुद्रदामन् के द्वारा मुद्रांन शील के जीर्णोद्धार करने की घटना के वर्णन में लिखा गया यह अभिलेख किसी अज्ञान कवि का है। क्योंकि इस अभिलेख में कहीं भी कवि का संकेत नहीं। किन्तु अभिलेख की काव्यात्मक शैली में यह प्रतीत होता है कि इसका लेखक अवश्य ही काव्यशला में कुशल एक उच्च कोटि का कवि था।

यह अभिलेख अलङ्कृत गद्यकाव्य की शैली में लिखा गया है। संस्कृत वाङ्मय का अधिक अद्य पद्यकाव्य में ही उपनिबद्ध है। गद्यकाव्य अपेक्षाकृत पद्यकाव्य से न्यून माना जाता है। यों गद्यसाहित्य का परिषय हमें ब्राह्मण, उपनिषद् और शास्त्रीय साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गद्य का काव्यात्मक स्वरूप तो पद्यपि अन्धकार में ही था किन्तु १५० ई० के लगभग लिखा गया यह अभिलेख गद्यकाव्य को अन्धकार से प्रकाश में ला देता है। इस अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्यकाव्य के साथ ही गद्यकाव्य का विकास भी हो रहा था और आगे के दण्डी, मुद्गन्धु और बाण तक के काव्य के चरमोत्कर्ष में यह अभिलेख भी अपना महत्वपूर्ण एवं प्रशस्त साहित्यिक स्थान सुरक्षित रखता है। यह न केवल गद्यकाव्य के सीधे-सादे कलेवर में है अपितु अलङ्कृत कलेवर में है।

इसके साथ ही कवि ने इसमें काव्य के गुणों की भी चर्चा की है। अतः काव्य के विकास पथ में यह एक प्रशस्त प्रकाश का कार्य करता है।

कवि ने रुद्रदामन् को काव्य के स्फुट-मधुर आदि गुणों और अलंकारों से सहित गद्य और पद्य काव्य के प्रणयन में निपुण बतलाया है—'स्फुटलपुमधुर-विरक्तान्तुण्डरूपसमयोदारालङ्कृतपद्यपद्य न' (पृ० ४, प० १४)। इस कथन से यह स्पष्ट है कि उस समय अर्थात् द्वितीय शताब्दी में महाकाव्य का पूर्ण विकास हो चुका था। "अलङ्कृत" शब्द से कविता के अलंकारों को बताने वाले अलंकार-शास्त्र से लेखक के पूर्ण परिचय का परिचान होता है। इससे साधारण काव्य से महाकाव्यों के विकास का इम भी सामने आ जाता है।

रोक्ति या शैली—इसमें गद्यकाव्य के अनुकूल ही समासयुक्त पदों का प्रयोग किया गया है। "ओजः समासभूयस्त्वमेन्द्रगद्यस्य जीविनम्।" शीघ्रगुणविशिष्ट

समासबहुलता गद्यकाव्य का प्राण है। कवि ने यद्यपि समासों का प्रयोग बहुतायत रूप से किया है किन्तु वे समासयुक्त पद छोटे-छोटे एव प्रवाहपूर्ण हैं। इन एव उसमें बंदर्भी रीति का समावेश मिलता है। हाँ, वर्ण विषय के अनुकूल नहीं-नहीं गौड़ी-बन्ध भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा सुवर्णसिक्ता और पलायिनी नदियों की बाढ के वेग से तथा प्रचण्ड वायु के झोंके से पहाड के चिखरो, वृक्षों और अट्टालिकाओं के विध्वंस और नदी-तट पर फँके गये पत्थरों, पेड़ों और झाड़ियों के वर्णन में अोजमयी भाषा में गौड़ी रीति का आश्रय लेता है—“गिरिचिखरतरतटाट्टालिको ” (पृ० १, पं० १८-२१)।

अभिलेख के प्रारम्भ में २३ अक्षरोवाले नौ शब्दों का समास मिलता है। रद्दामन के वर्णन में तो समास की दीर्घता देखने ही योग्य है। उसके वर्णन में ४० अक्षरो से युक्त १७ शब्दों के समास का प्रयोग किया गया है। वाक्यों की लम्बाई समासों की लम्बाई से बाढ़ी लगाती है। एक वाक्य की लम्बाई तो २३ शब्द हैं (एक शब्द से अभिप्राय २३ अक्षरो से होता है)।

२३ अक्षरोवाले नौ शब्दों के समास का उदाहरण—“वृत्तिबोद्धविस्तार”
“.....पालीकत्वात्” (पृ० १, पं० २)।

अलंकार—अलंकार में अलंकार और अलंकार दोनों का प्रयोग किया गया है। अलंकारों में अनुसृतों के प्रयोग अधिक मिलते हैं—द्वितीयक वर्णानुसृत के। बड़ी-बड़ी पर पद, पदांश और वर्णों की कटुति हुई है।

पदांश का उदाहरण—कान्निपमाना विपमानाम्।

पदांश की कटुति का उदाहरण—पारण धारण। विनेमानाम् पाने-
मानाम्।

वर्णों की कटुति का उदाहरण—आर्षेण जहार्षेण। गद्य पद्य। नाम्ना
दान्ना। अन्वन्तनाम्नः रद्दाम्ना।

“गिरिचिखरत तटाट्टालिकोपत्तन्नाहारररणीवृषनिध्वन्नि...” इत
मन्त्रयुक्त पद में वर्णानुसृत में स्वर एव अक्षर वर्णों की कटुति कृदलान्-
पूर्वक की गयी है।

अलंकार का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। पूरे अभिलेख में केवल दो बार उपमाअलंकार का और एक बार उपमेयालंकार का प्रयोग हुआ है। श्लेष का प्रयोग भी एक स्थान में हुआ है, पर अत्यल्प प्रदान ही है।

उपनासंकार का उदाहरण हमें "पर्वतप्रतिस्पर्धि" इस शब्द-समूह में मिलता है। इसमें सुदृशंन शील के बांध की दीवार की तुलना पर्वत के अग्रभाग से की गयी है। उपनासंकार का दूसरा उदाहरण—"मदधन्वस्त्वम्" इस पद में दार पद जाने के कारण सारा पानी निकल जाने से शील की उपमा मदधन्व से की गयी है।

उत्प्रेक्षाकार का उदाहरण होने "पर्वन्नेन एकामंबभूतायानिव पृथिव्या इत्थान्" में अत्यधिक वर्षों से पृथिवी को समुद्र के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

"अतिदृशं दुर्दशनम्" में श्लेष अलंकार को समाने का प्रयास तो किया गया है किन्तु वह अधिक सुन्दर नहीं हो पाया है।

भाषा—इस अमिनेव की भाषा साधारण बोलचाल की है। इसमें प्रारंभ से अन्त तक प्रवाह पाया जाता है। इसके शब्दों पर प्रोक्षित भाषा का प्रभाव शून्य पड़ता है—"विशदुत्तराणि" के स्थान पर—"वीशदुत्तराणि" के प्रयोग में प्रकृत का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके साथ ही भाषा में पौराणिक काव्यशैली की सरलता भी पाई जाती है।

गुणों का समन्वय—परवर्ती अलंकारशास्त्र और काव्यों में मिलनेवाले कविता के अनेक गुणों का नाननिर्देश भी किया गया है—'स्फुट-लघुमधुरोत्तर-विषकान्त'.....। अमिनेव में निर्दिष्ट इन गुणों की समता हम दाही के गुणों से कर सकते हैं। दाही ने काव्यादर्श में काव्य के—

'श्लेषः प्रवादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अयं व्यतिरुद्धारत्वनोज्ज्वलान्निममाधयः ।'

दस गुणों का निर्देश किया गया है। हम अमिनेव "स्फुटता" नामक गुण को दाही के 'अयं व्यतिरुद्ध' से, "लघुता" को 'प्रवाद' से मधुरता को 'माधुर्य' से, 'विष' को ओजोमधु से और कान्त को 'कान्ति' नामक गुण से समता कर सकते हैं।

अमिनेव के इस अंश से उस समय तक अस्तित्व में आये अलंकार-शास्त्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय दशमो तक काव्य के मध्य और पद्य के दो भाग हो चुके थे। पद्य-पद्य के गुण-बोधक अमिनेव के ये उल्लेखित रूप से परिभाषित हैं और किसी मान्य वाचस्पत्याचार्य को और स्पष्ट संकेत करते हैं।

वर्णन ऊँची कोटि का नहीं होकर भी जलाशय के चित्रण में मनोरमता एवं हृदयहारिता है।

इस अमिलेख में शकशासक को गद्य-पद्य-काव्य-रचना में निरुण कहना इस बात का प्रतीक है कि गद्यकाव्य उस समय अपने पूर्ण विकसित अवस्था में था और उसका प्रभाव विद्वन्मण्डली में इतना अधिक बढ रहा था कि एक विदेशी शासक भी उसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यह प्रवृत्ति विदेशी आक्रमण के समय समृद्ध के हास होने की बात का सङ्केत कर देती है।

(१) ऋटियाँ—इस अमिलेख में त्रियावाचक उर्ध्वों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पूरे अमिलेख में केवल २ त्रियाओं का प्रयोग हुआ है। “वर्तते” इसका प्रयोग पृ० १ की चौथी पक्ति में, तथा “आसीत्” का प्रयोग पृ० १ की २१ वीं और पृ० २ की २री पक्ति में हुआ है। “आसीत्” इस त्रिया का प्रयोग दो बार हुआ है। इस प्रकार कहने को तो त्रियाओं का प्रयोग ३ बार हुआ है किन्तु वे त्रियायें केवल ‘वर्तते’ और ‘आसीत्’ ये दो ही हैं। केवल ‘आसीत्’ त्रिया का ही दो बार प्रयोग हुआ है। समृद्ध गद्य काव्य में समानबहुत दीर्घवाचक के कारण अन्यत्र भी त्रिया की कमी देखी जाती है।

(२) व्याकरण की अशुद्धियाँ—“विषयाणा पठिना” में ‘पठिना’ शब्द का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से गलत है। क्योंकि पठि शब्द को समास ही में ‘धि’ सज्ञा होती है (“पठि. समास एव”—अष्टाध्यायी १।४।८)। इसीलिये समस्त पठि’ शब्द का ही रूप तृतीया विभक्ति में ‘पठिना’ (“आडो नाऽस्त्रियाम्”—अष्टाध्यायी १।३। १२०, धे: परस्य आडो ना स्यात् अस्त्रियाम् । ‘आड्’ इति ‘टा’ सज्ञा प्राचाम्) है अथमस्त में ‘पस्या’ ही होता है। पाणिनि से पूर्ववैदिक और पौराणिक भाषा में इस तरह की प्रवृत्ति पायी जाती है। अतः गद्य में भाषा की दृष्टि से पौराणिक शैली को अपनाया गया है।

इसी प्रकार कारक की अशुद्धि भी “अन्यत्र संघामेयु” में पायी जाती है। यहाँ पर कारक की दृष्टि से (“अन्यत्रादितरत्तं दिक्शब्दाश्चूत्तरपदानाहिवुक्तं” अष्टाध्यायी २। ३। २९ इस सूत्र से “अन्य” शब्द के ससम्यन्त रूप ‘अन्यत्र’ के योग में पचमी ही जायगी। अतः) ‘अन्यत्र संघामेयुः’ होना चाहिए।

साहित्यिक ऋटि भी हमें “पर्जन्येन एकाणंबभूनापामिव पृथिव्याम् वृतापाम्” में मिलती है। क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग गद्यकाव्य में नहीं

निरा है। साथ ही इसमें "भूनायाम्" के बाद पुन "कृतायाम्" यह शब्द भी अर्धर प्रयुक्त हो गया है। अतः 'अर्धरूपदत्ता' दोष भी है।

'अतिभृशम् दुर्दर्शनम्', में श्लेष अलकार का असफल प्रयोग करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार इसमें बहुत से दोष भी पाये जाते हैं। इन गुण-दोषों की वनालोचना के बाद भी यह अभिलेख अपनी शैली की प्रवाहपूर्ण रोचकता, भावप्रकटा और हृदयप्राहकता के कारण सदृश्यों को एक लघु गद्यकाव्य का उदाहरण कराता है। इस प्रकार संक्षेप में इस अभिलेख की काव्यगत विशेषताओं की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :—

- (१) सम्पूर्ण अभिलेख गद्यशैली में लिखा गया है।
- (२) प्रधानतया वैदर्भी रीति की विशेषताओं का समावेश किया गया है।
- (३) क्रियाओं का अल्पप्रयोग हुआ है।
- (४) साधारण शब्दों के माध्यम से ही विषय को समझाने का प्रयास किया गया है।
- (५) उद्देश्य साधारण है किन्तु फिर भी भाषा में प्रवाह है।
- (६) कवि की वर्णन-शक्ति और प्रतिभा का आभास मिल रहा है।
- (७) अलंकारों में शब्दालंकार और अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है। विशेषकर 'अनुप्रास' और 'उपमा'लंकार का।
- (८) अभिलेख के लेखक का नाम निर्दिष्ट नहीं है किन्तु शैली की विचित्रता से उच्च कोटि का अनुमान होता है।
- (९) प्रारम्भ से अन्त तक सरल और समासों का प्रयोग हुआ है।
- (१०) अलंकारश्रेण पर प्रकाश पड़ता है।
- (११) लघु गद्यकाव्य का नमूना है।

टिप्पणी

गिरिनगर—काठियावाड में आधुनिक नगर जुनागढ़ का प्राचीन नाम।

मीठविधान—डॉ० भगवान लाल, इन्दु जी तथा बूल्हर के मतानुसार मीठ का अर्थ 'मोमूत्र' है। किन्तु बिल्हॉर्न के मतानुसार मीठविधान का अर्थ है—कोई ऐसी वस्तु जिससे जल का विकास हो। उनके अनुसार 'मीठ' पानी के 'मौल' का समानार्थक है, जिसका अर्थ गन्दी होता है। इसी अर्थ में 'कल्पित-

विस्तर' में 'मीडगिरि' गोबर के डेर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर मीडविधान का अर्थ यह प्रतीत होना है—शील के लिये ऐसा प्रबन्ध, जिससे उनमें गन्दगी न आ सके।

महाक्षत्रप—यह राजाओं के प्रान्तीय शासकों की उपाधि। कालान्तर में यह राजागण स्वतन्त्र हो गये तथा हिन्दूधर्म को ग्रहण कर लिये। शिलालेखों एवं मुद्राओं के अतिरिक्त इस शब्द का उल्लेख सस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता। इसका मूल-फारसी "क्षत्रप" (शासक) है। सस्कृत के कीचकार के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षत्र पाति इति क्षत्रप' इस प्रकार की जाती है। प्रायः 'क्षत्रप' शब्द ईरानियों की उपाधि 'क्षत्रपावन' (प्रान्तीय शासक) से लिया गया मालूम पड़ता है।

क्षत्रप व्यवस्था में यह विशेषता पायी जाती थी कि—प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप हुआ करते थे। एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप, जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र और उत्तराधिकारी होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था, जैसा किसी प्रान्तीय अधिष्ठान का एक समय एक ही अथवा मिश्र स्थानों से शासन करनेवाले राजा और युवराज का। भारत के मिश्र प्रदेशों में ऐसे कई महाक्षत्रप-राजवंश थे जिन्हें सुविधानुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है।

१—तसशिला और मथुरा के उत्तरी क्षत्रप।

२—तथा महाराष्ट्र और उज्जैन के पश्चिमी क्षत्रप।

महाक्षत्रप रुद्रदामन का सम्बन्ध उज्जैन के पश्चिम क्षत्रपों से था।

तुपास्फ—स्वरूप की दृष्टि से तो यह शब्द फारसी जान पड़ता है। किन्तु यह कोई यूनानी शानक था, जिसने फारसी नाम या उपाधि ग्रहण कर ली थी। सम्भवतः यह अशोक की कर देने वाला शासक रहा होगा।

पाली—तटबन्ध।

सेनुबन्ध—बाँध की बनावट।

प्रणाली—पानी बहाने की नाली।

राष्ट्रिय—जिला या प्रान्त का शासक (राष्ट्रम् अधिवृत्त राष्ट्रिय)।

आवरारवन्ति—डॉ० नडारकर के अनुसार यह एक ही शब्द है। इसका अर्थ है मालवा; क्योंकि इसका विशेषण 'पूर्वार' है जिससे पूर्वी और पश्चिमी का बोध होता है। न कि नगवान लाल, इन्दु जी और रंजन के मतानुसार पूर्वी आवर तथा पश्चिमी अवन्ति।

अवन्ति उज्जनी का दूसरा नाम है। आकर समभवत प्राचीन नगर "आगर" (उज्जनी से उत्तर-पूर्व ४० मील) है। वहाँ से अगरवाल वैश्य उत्पन्न कहे गये हैं।

अनूर—नर्मदा नदी के मुहाने का प्रदेश जिसका राजधानी माहिष्मती थी, जो मध्य प्रदेश के आधुनिक भाग्यता से अभिन्न मानी जाती है।

नीवतु—इस स्थान का ठीक पता नहीं है, किन्तु समभवत यह निमार, मन्दा और उत्तरी गुजरात के बीच का प्रदेश, जिसमें आधुनिक 'वाँसवादा' पुरपुर और अन्य छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे, हो सकता है। "नीवृज्जन-पदो देश" (अमरकोश)।

आनन्त—आधुनिक गुजरात का उत्तरी भाग, जिसका मुख्य नगर आनन्तपुर या आनन्दपुर (वर्तमान बडोदा राज्य के बडोदा प्रान्त में बडोदा नगर) था। कुछ लोगों के अनुसार उत्तरी काठियावाड़, जिसकी राजधानी द्वारका थी, उससे इसका एकता की गयी है।

श्वभ्र—रैखत के मतानुसार साबरमती के किनारे का प्रदेश अर्थात् गुजरात। तब आनन्त और सौराष्ट्र का अर्थ उत्तरी और दक्षिणी काठियावाड़ होगा।

सौवीर—कुछ विद्वान् सिन्धु-सौवीर को एक ही शब्द मानकर सिन्ध और गुजरात के प्रदेश को समझते हैं।

कुकुर—डॉ० रामकृष्ण मडारकर के मतानुसार राजपूताना का वह भाग जिसे ह्वनसांग ने कि-वे-लो कहा है। डॉ० भगवान् लाल और इन्दुजी के मतानुसार पूर्वी राजस्थान। डॉ० आर० मडारकर के मत से आधुनिक गुजरात, जो गौतमी-पुत्र के भागिकवाले गुहालेख के अनुसार अपरान्त से अभिन्न है।

अपरान्त—गौतमीपुत्र और पुलुमावि के समकालीन राम के उपोत्पिपो टालेमा के अनुसार अपरान्त चार भागों में बँटा था। दो समुद्र के किनारे वर्तमान पाना और कोलावा में तथा दो रत्नगिरि और उत्तर कनाडा जिलों से संबद्ध थे। आन्तरिक भागों में गोदावरी के ऊपरी भाग से सिंचित प्रदेश तथा बम्बई के कन्नड भागों जिले सम्मिलित थे। महाभारत तथा मार्कण्डेय पुराण में भी इसी सम्पूर्ण भू-भाग का नाम अपरान्त कहा गया है। किन्तु रघुदामन् द्वारा अपिचूत अपरान्त में माही तथा दमनगण के बीच का प्रान्त जान पड़ता है, क्योंकि उन दिनों उत्तरी कौशिल्य आन्ध्र राज्यों के अधिकार में था।

योधेय—ये लडाकू जातियाँ थीं, जिनका उल्लेख वैयाकरण पाणिनि ने भी किया है। योधेय लोग बहावलपुर राज्य के आसपास रहते थे। मालवों के समान इनका भी गणराज्य था। "योधेयगणस्य जय" इससे अंकित अनेक गोट चात्रमुद्रायें गुप्ताक्षरों में अंकित तृतीय शताब्दी में पायी गयी हैं।

इस जाति को समृद्रगुप्त ने भी पराजित किया था। देखिये मरतपुर राज्य के विजयगढ नामक स्थान पर तृतीय शताब्दी का किसी योधेय राजा का प्राप्त एक सन्दिष्ट शिलालेख।

पह्लव—किसी के मत से पह्लव लोग फारस से आने वाले थे जो बाद में बौद्ध हो गये किन्तु अन्य मत से ये भारत के आदि-निवासी थे जो पहले उत्तरी भारत के उस प्रान्त में रहते थे, जिस पर आन्ध्रवंश का शासन था, किन्तु आन्ध्र-मृत्यों द्वारा निष्कासित होकर वे काञ्चीवरम के पास बस गये और उन्होंने यशस्वी पल्लव वंश की स्थापना की।

सुराष्ट्र—दक्षिण काठियावाड, जिसकी राजधानी गिरिनगर है।

मरु—मारवाड, राजपूताने का रेगिस्तान।

निषाद—पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाडियाँ।

यथार्थहस्तोच्छ्रय—

"तत्रासीन स्थितो वाजपि पाणिमुद्यम्यदक्षिणम् ।

विनीतवेधामरण पश्येत् कार्याणि कारिणाम् ॥

(मनु० ८-२)

विष्टि—वेगार

प्रणयक्रिया—श्रमदान अथवा उपहार।

(२) महाराजचन्द्रस्य मेहरौली-लौहस्तम्भलेखः

यस्योद्गमनं प्रनीपमुरमा शत्रून् समेत्यागतान्
वङ्गेष्वाहवर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिभुंजे ।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन ममरे सिन्धोजिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यने जलनिधिर्वीर्यानिर्लैर्दक्षिण ॥ १ ॥

बंगाल प्रदेश में एक साथ मिलकर आक्रमण करने के लिये आये हुए शत्रुओं को समर-भूमि में वसस्थल के बल पीछे ढकलते हुए जिस (चन्द्र) की मुखा पर तलवार से यश लिखा गया अर्थात् दुश्मनों की तलवार के प्रहार में लगी घाव जिसकी मुखा पर कीर्ति पक्ति क समान लग रहा हो । जिसने सिन्धु नदी की सात घाटाओं को पार कर वाह्लीक देश को जीता । जिसके प्रतापस्वी पवन से दक्षिण समुद्र आज भी सुशोभित हो रहा है ॥ १ ॥

स्त्रिभ्रस्येव विमृज्य गा नरपतेर्गामाश्रितस्येनरा
मूर्त्या कर्मजितावनी गनवत कीर्त्या म्यितस्य क्षिती
शान्तस्येव महावने हुनमुजो यस्य प्रनापो महा-
प्राद्याप्युत्सृजति प्रगाशितरिपोर्यत्नस्य शेष क्षिनिम् ॥ २ ॥

जो बहुत दिनों तक पृथ्वी के मार को बहन करते-करते एक ही के समान सभे छोड़कर दूसरे लोक अर्थात् स्वर्ग बला गया है । जो पार्थिव शरीर से अपने मुकुटों द्वारा स्वर्गलोक को जीतने के बाद वहाँ पहुँचकर भी अपने यश शरीर से पृथ्वी पर निवास करता है । विशाल कानन में शान्त हुई दावाग्नि के समान शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले जिस (चन्द्र) के प्रजलों का स्मारक रूप महाद् प्रताप आज भी इस भूमण्डल को नहीं छोड़ता है ॥ २ ॥

प्राप्तेन स्वमुजाजित च मुचिर चैकाधिराज्य क्षिती
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी ववश्रथिय विभ्रता ।
तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णो मर्ति
प्रान्दुर्विष्णुवदे गिरी भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापित ॥ ३ ॥

त्रिसने इस वस्तुधरा पर अपने मुकुटबल से उपाजित एकाधिपत्य का बटुद दिनों तक उपभोग किया, पूर्णचंद्र व समान अपनी मुक्त-शाना का धारा करने-वाले और 'चंद्र' नाम से प्रसिद्ध उस शूद्र हृदय राजा ने विष्णु भगवान् में श्रद्धा रखकर 'विष्णुपद' नाम के पर्वत पर भगवान् विष्णु की इस उन्नत ध्वजा की स्थापना की ॥ ३ ॥

अमिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

दिल्ली में ९ मील दक्षिण महरोली नाम के एक गाँव में विद्यमान एक लोह-स्तम्भ पर यह अमिलेख उत्कीर्ण है। इसमें विष्णुदेव ससृष्ट छन्दों तथा पाँचवों शताब्दी ई० की सुकालान वर्णनाम में 'चन्द्र' नाम के किसी सम्राट् का विजय-यात्रा का वृत्तान्त मिलता है। अमिलेख में लिखि तथा 'चन्द्र' राजा के वंश का उल्लेख नहीं होने के कारण पुरातत्त्व-वेत्ताओं में कासी मतभेद है कि प्रसन्नि का दिग्विजय 'चंद्र' कौन है? इस लघु तत्र में केवल मुख्य रूप से इतना ही बातों का संक्षेप मिलता है कि चन्द्र नामक किसी राजा ने बङ्गाल में शत्रुओं को पराजित किया और सिन्धु के सम मुहाने बंधवा सप्त-शाखाओं का पार कर बाङ्गाली पर आक्रमण करके उन्हें भी पराजित किया और अपने बाहुबल से पृथ्वी का 'एकाधिपत्य' प्राप्त करके दीर्घकाल तक उसका उपभोग किया। अमिलेख के 'त्रिभु-स्व विभृग्य या नरपतयाभाधिनस्वतराम्' इस द्वितीय श्लोक में 'चन्द्र' के निपनोरान्त उत्कीर्ण किन्न जात का अनुमान किया जाता है। अमिलेख का उद्देश्य विष्णुपद नाम के पर्वत पर, जो सम्भवतः दिल्ली की पहली का नाम था विष्णुध्वज की स्थापना की स्मृति कराना था।

अमिलेख में निर्दिष्ट चंद्र के निर्धारण में मुख्यतः ऐतिहासिकों के निम्न-लिखित विचार दृष्टिगोचर हुए हैं।

(क) "चंद्र" = गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम।

इस अभिलेख के 'चंद्र' से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम के समीकरण में आर० जी० बसाव, पन्हाट तथा डॉक्टर कृष्णस्वामी व्यापार का मत है कि गुप्त साम्राज्य का सर्वप्रथम महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम था। अमिलेख में उचित "प्रलेन स्वमुत्राजित च मुधिर चैकाधिराज्य शित्री" यह उक्ति इसकी पुष्टि में पर्याप्त है। चन्द्रगुप्त की प्रयाग प्रसस्ति में बंगाल का निर्देश नहीं होने का उपयोग वे लोग इस तरह करते हैं कि—चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही बंगाल आदि को जीत लिया था, जिसने, चन्द्रगुप्त, को, चन्द्रो, चैतने, को, अस्तित्व नहीं, पद, १।

फ्रीड महोदय का इस एकीकरण में यह तर्क है कि इस अभिलेख की लिखा-
वट प्रमाण की प्रगति से पूर्व की प्रतीति होती है।

हिन्दु उन्मुक्त विचारधाराओं की आलोचना इस प्रकार की जाती है :—

मुनिकालीन लेख तथा मिक्को के आधार पर यह निश्चित रूप में ज्ञान होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्यकाल स्वल्प ही था (समभवत. ई० ३२० से ३३५ ई०)। इसलिपे प्रस्तुत अभिलेख के 'एकाधिकाराज्य' का चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए प्रयोग सम्भव नहीं जान पड़ता। "समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने बंगाल, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त किया था" इस बात का ऐति-
हासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। वस्तुतः सर्वप्रथम विजय-यात्रा करने का श्रेय तो समुद्रगुप्त को ही मिला है। पुराणों में वर्णित 'अनुगङ्ग प्रमाण च' से तथा प्रमाण-प्रवृत्ति से यह ज्ञान होता है कि समुद्रगुप्त के पिता का राज्य पाटलिपुत्र से प्रयाग के बीच मज्जा की घाटी में सीमित था। अभिलेख का 'चन्द्र' सिन्धु नदी को पार कर बाह्यीक को भी पराजित करने वाला है। अतः इस समीकरण में चन्द्रगुप्त प्रथम की अधिकार-सीमा सिन्धु तक मानना पड़ेगा किन्तु इस बात में कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। अतः इस अभिलेख के 'चन्द्र' की समजा चन्द्रगुप्त प्रथम से करना सर्वथा असंगत है।

(४) पण्डित हरप्रसाद शान्की और रासाल दास बंनर्जी इस अभिलेख के 'चन्द्र' को बंगाल में रानांगर के पास स्थित मुमुनियो शिलालेख का चन्द्रवर्मन मानते हैं, किन्तु इस समीकरण में तथ्यपूर्ण प्रमाण नहीं है, अतः यह भी उल्लेखनीय ही है। मुमुनियो शिलालेख के चन्द्रवर्मन के विषय में विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि इसकी समजा प्रयाग-स्तम्भ में निर्दिष्ट चन्द्रवर्मन से है जो अर्धवर्ष के अन्त्यान्व शासकों के माप समुद्रगुप्त द्वारा पराजित हुआ था। साथ ही मुमुनियो के शिलालेख में चन्द्रवर्मन 'महाराजा' कहा गया है, जब कि मेहरोली में 'चन्द्र' के लिपे 'अधिराज' उद्भूत प्रयुक्त हुआ है। अतः अभिलेख के 'चन्द्र' की समजा चन्द्रवर्मन में सम्भव नहीं।

(५) विन्सेट स्मिथ, दाम्पेकर और शिन्धुचन्द्र सरकार प्रभृति विद्वान् 'चन्द्र' की निश्चित रूप से मुन सत्तात् चन्द्रगुप्त द्वितीय विजयानन्द मानते हैं। इस समीकरण में निम्नलिखित बातों को प्रमाण के लिये माना जाता है :—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम अथवा उपनाम केवल 'चन्द्र' के रूप में उसके लक्ष्मि के सिक्कों में भी मिलता है। जिस प्रकार विजयानन्द के लिपे विजय

निर उदाया हो, जिसको शान्त करना चन्द्रगुप्त द्वितीय को आवश्यक हो गया होगा, जिसका उल्लेख इस अभिलेख में मिलता है।

इस पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत अभिलेख के 'चन्द्र' की समता गुण सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विष्णुनादित्य से ही करना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के निधनोपरान्त अभिलेख के उल्लेख होने का स्पष्ट संकेत निम्न में डॉक्टर सरकार का यह अनुमान बिल्कुल सही जान पड़ता है कि मृत्युम समय: चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन-काळ की अन्तिम बेला में गडगामा या और उस पर अपने पिता के दिवसत होते ही कुमारगुप्त प्रथम ने लेख उल्लेख करा दिया।

अन्तु, उक्त प्रमाणों आधार पर चन्द्रगुप्त और 'चन्द्र' के समांतरण की समता से इस अभिलेख के द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य निकल पड़े हैं :—

(१) बलास ने जो भारत के शीशंकानीत इतिहास में निरन्तर विद्रोह का एक साधारणिक स्थान रहा है, चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध अपना शिर उदाया था किन्तु उसके द्वारा कुचल दिया गया।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शकों और कुषाणों की बर्बात-सुची शक्ति को नष्ट कर दिया जिसे समुद्रगुप्त अत्यन्त ही नष्ट कर तथा पा। 'एलेन' के अनुसार बाह्यीकों का प्रबल सामान्यतया विदेशी आक्रमणकारियों के वर्ण में किया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज को प्रतिष्ठित करने का रहस्य इस ऐतिहासिक तथ्य से भी सम्बन्धित जान पड़ता है कि जब रामगुप्त शकों के द्वारा कहीं हिमालय दुर्ग में घेर लिया गया और पन्द्रहवें अती महाराजों श्रुतदेवी की समर्पण कर अतनी जान बचाने की बड़ स्तोकार की तो इस अनजान की सहन नहीं कर रामगुप्त का छोटा नाई 'चन्द्रगुप्त' द्वितीय श्रुतदेवी के वेध में सैनिकों सहित एक डिवर में गया और वहीं पर अपने सप्रेमता महत्त्वों के साथ शकराज को मारकर अन्य वंशु नदी तटवर्ती शकराजों को पराजित किया। सम्भवतः जिस हिमालय दुर्ग में 'चन्द्रगुप्त' ने स्वर्णपत्र शकराज को हरा कर वहीं विष्णुपद नामक पर्वत है अतः वहीं पर अपनी एक-विराट के म्मारक के रूप में विष्णु ध्वज की प्रतिष्ठा की होगी।

अमिलेख का साहित्यिक महत्त्व

यद्यपि इस लघुकाव्य अमिलेख में किसी साहित्यिक वैशिष्ट्य का अन्वेषण तो प्रयाससाध्य ही होगा तथापि 'यदुपलब्ध तदेव सम्भावनीयम्' इस न्याय से हमें उस अर्थ का भी विवेचन अपेक्षित ही है। केवल तीन श्लोकों में कवि ने शादूलविहीनद्विष्ट छन्द में 'चन्द्र' की विजय-यात्रा का वर्णन किया है। यह छन्द संस्कृत पद्य-भाषा का वह सेतु है जिसके सहारे किसी भी भाव या रस को उतारा जा सकता है। इस प्रयुक्ति का अज्ञात कवि राजविषयक अपने रतिभाव को इस छन्द के माध्यम से व्यक्त करने में सफल नजर आता है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है उसमें यद्यपि कवि की विशेष रुचि नहीं प्रतीत होती फिर भी तीनों पद्यों में रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा जैसे अलंकारों की हलकी मनोगम शक्ति तो मिल ही जाती है। प्रथम श्लोक में कवि ने राजा के पराक्रम पर वायु का आरोप किया है 'वीर्यानिर्दंर्क्षण'। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में "स्तिप्रस्मेव विमृश्य या नरपते" इस उक्ति में राजा के दिव्यगत होने की कवि इस प्रकार उत्प्रेक्षा करता है मानो पृथिवी का भार सहन करते-करते थक कर दूसरी भूमि को (स्वर्ग को) चला गया है। इसी श्लोक में "शान्तस्मेव महावने हृत्पुत्रो यस्य प्रतापो महाद्" इस तृतीय वर्णन में कवि ने राजा के श्रेष्ठ से शान्त हुए शत्रुओं की उपमा महावन की उभय भाग से दी है जो उसे जला कर शान्त हो जाती है। यहाँ पर राजा के श्रेष्ठ की उपमा वनाग्नि से भी दी जा सकती है। इस प्रकार इस श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा की समृद्धि देखने ही योग्य है। अन्तिम श्लोक में भी "समप्रचन्द्रसदृशो वक्त्रप्रिय विभ्रता" में राजा के मुख की शोभा की उपमा पूर्ण चन्द्रमा से दी गयी है। इस प्रकार कवि अलंकार-योजना का निर्वाह कर अलंकार-शास्त्र की भक्ति का भी परिषय देता नजर आता है। जहाँ तक गुण और रीति की बात है उसमें कवि प्रसाद गुण और पाञ्चाली रीति के छोटों को सूत्रा हुआ नजर आता है। दिग्ब्रज का वर्णन-प्रसंग होने पर भी कवि ने सरल तथा असमस्त या लघु पदों का प्रयोग कर पद्य को प्रवाहमय बनाने का सफल प्रयास किया है। राजा का पुष्पकम् के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करके भी यद्यत्पर से पृथिवी पर विद्यमान रहना और शत्रु को विनाश के गर्त में डकेल कर भी उसके प्रताप का उसके शत्रुओं के स्मारक रूप में पृथिवी को नहीं छोड़ना, ये दोनों उक्ति-वैचित्र्य सहृदय के मानस-फल को छू सा लेंते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस छोटे से काव्य बलेवर

में श्री कवि ने अपनी काव्यप्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। केवल अभिलेख के अन्तिम भाग में 'प्रागुः' के स्थान में 'प्रागु' यह पाठ चिन्तनीय है, क्योंकि नकार के स्थान में अनुस्वार को ही औचित्य प्राप्त है। प्रागु. का व्युत्पत्ति-लम्प्य अर्थ है—प्रकृष्टा अश्वो यस्य असौ प्रागुः। यहाँ पर अशु शब्द अवयव-बाची है। हो सकता है कि अपने मूल रूप में अनुस्वार न ही पाठ रहा हो बाद में यान्विक या अन्य किसी कारण से नकार का पाठ हो गया है।

टिप्पणी

वाह्लिका.—इतिहास-वेत्ताओं में इस शब्द के उच्चारण में मतभेद हैं। कुछ लोग 'वाह्लीक' कुछ 'वाह्लीक' और कुछ 'वाह्लिक' कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मूल रूप में 'वाह्लिक' नहीं 'वाह्लीक' पाठ है किन्तु इस श्लोक में छन्द के अनुरोध से ह्रस्व होकर 'वाह्लिक' हो गया है। यही युक्तिमग्न जान पड़ता है।

कुछ ऐतिहासिक 'वाह्लीक' शब्द का अप्रं आधुनिक 'बल्ल' देश का प्राचीन नाम करते हैं तो कुछ लोग पञ्जाब के रहनेवाले जाति विशेष, जिनका निवास-स्थान आधुनिक बंकिट्टया या बल्ल करते हैं। यहो मत उचित प्रतीत होता है।
देखिये—

“पञ्चातां सिन्धुपद्याना नदीना येऽन्तरे स्थिताः।

ताव् धर्मबाह्यान्सुचीन् वाहीकानपि वज्रयेत् ॥”

(महाभारत)

सिन्धोः सप्तमुखानि—क्योंकि निम्नलिखित सात नदियों के मार्ग से समुद्र जल का आघात करता है, अतः मुँह के समान होने से इन्हे 'मुखानि' कहा गया है।

इन सातों के ये नाम हैं—शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता, सिन्धु और कुम्भ।

दक्षिणः जलनिधिः—इस शब्द से कुमारी तीर्थ और सिंहद्वीप से दक्षिण के सागर को, जिसे आजकल भारतीय महासागर कहा जाता है, संकेतित किया गया है।

मुचिरं—इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि—दिल्लूत साम्राज्य को प्राप्त करने के निम्ने दीर्घकाल तक आयास करना पडा। चन्द्रगुप्त प्रथम को बाकाटकों के विरुद्ध बड़े लम्बे समय तक मोर्चा लेना पडा था। इन बाकाटकों की शक्ति बड़ी तेजी से पश्चिम में बढ़ती जा रही थी, सम्भवतः साम्राज्य-विस्तार के आकाशी सत्रणों के राजपुरणों की प्रतिध्वनियाँ में।

धावेन—कुछ लोग इसके स्थान में 'धावेन' पढ़ते हैं किन्तु प्रामाणिक पुरातत्त्ववेत्ता लोग "धावेन" को ही सही मानते हैं। "धाव" शब्द के भी दो अर्थ किये जाते हैं—कुछ विद्वान् तो इसे महाराज 'चन्द्र' का दूसरा नाम कहते हैं। किन्तु हाबटर आदगर इनका अर्थ करते हैं। "एविव विचारदाला" और इसे 'भूमिपतिना' के विद्वेषण के रूप में प्रयुक्त मानते हैं। यही मत्र मुक्तिवगत भी है।

विष्णुपदे गिरी—नावान् विष्णु के पदविहों से अकित पर्वत पर। यह स्थान कुरुक्षेत्र के समीप ही है। देखिये—

“एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।

एषा नदी विषाग्ना य नदी परमजावनी” ॥

(महानारत)



(३) कुमारगुप्तस्य मन्दसौर (दशपुर) शिलालेखः

(मालव संवत् ५२९)

सिद्धम् ।

यो वृत्त्ययमुपास्यते मुरगणैः सिद्धैश्च सिद्धार्थभि-
र्धानैकाग्रपरंविधेयविषयैर्मोक्षार्थभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिः शापप्रसादक्षम-
हेतुर्यो जगतः क्षयाम्युदययोः पायात् स वो भास्कर ॥ १ ॥

सिद्धि हो ।

भगवान् सूर्य आप लोगों की रक्षा करें, जो सत्कार के उदय और अस्त के कारण हैं, जो देव-मूह, यौगिक सिद्धि के अमिलायी सिद्ध-गण, निरन्तर ध्यान-मग्न सयनी और मोक्षार्थी योगि-गण, वरदान और शाप देने में समर्थ कठोर तपस्या करने वाले मुनि-गण, के द्वारा भक्तिपूर्वक पूजित होते हैं ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मार्पणोऽभ्युद्यता-
वृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतैः पुष्पाति लोकत्रयम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैः सस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तैर्म्यश्च ददाति योऽभिलषितं तस्मै सवित्रे नमः ॥ २ ॥

उस सूर्यदेव को नमस्कार है, जिनके वास्तविक स्वरूप को तत्त्वज्ञान को जाननेवाले और साधना में उत्तर ब्रह्मार्पण भी समझने में असमर्थ हैं, जो अपनी फेंकी हुई किरणों से समस्त त्रैलोक्य का पोषण करते हैं, जो उदित होते ही गन्धर्व, देवता, किन्नर, सिद्ध और मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित होते हैं और जो अपने भक्तों के मनोरथ को पूर्ण करते हैं ॥ २ ॥

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलिनाशुजालः ।

क्षीवाङ्गनाजनकपोल्ललाभिताम्रः

पायात्स वः मुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥ ३ ॥

६

विलोकीचोचलिनारविन्दपतद्रजपिञ्जरितैश्च हसैः ।

त्वक्सरोदारनरावभुग्नैः क्वचित्परास्मम्बुरहैश्च भान्ति ॥ ८ ॥

और वहाँ चबल लहरों से कम्पित कमल के झट्टे हुए पराग से पीतवर्ण-
रत्ने हृष्टा से और अपने पराग के पूर्णभार ने नम्रीभूत कमलों से सरोवर सुशो-
भित हैं ॥ ८ ॥

स्वपुष्पमारावननेनगेन्द्रैर्मदप्रगल्भालिकुलस्वनेश्च ।

अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिर्वनानि यस्मिन् समलकृतानि ॥ ९ ॥

जिस मालव देश के दशपुर नगर के उपवन-प्रभूतगुच्छ से अवनत तरुवर,
उदमत वृक्षों के गुच्छन तथा निरन्तर सचरणगोल पुरनारियो से अलकृत हैं ॥ ९ ॥

चन्द्रत्यक्कान्यबलासनायान्यपर्यशुबलान्यधिकोन्नतानि ।

तडिल्लनाचित्रमिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

जिन दशपुर के भवन—फहराते हुए शब्द से, कोमलाङ्गी लक्ष्मणाओं से,
और ऊँचे-ऊँचे श्वेत शिखरों से ऐसे मुग्धाभित हो रहे हैं मानो विद्युन्लता की
शंसि से रंग विरगि बने हुए श्वेत मेघ के टुकड़े हा ॥ १० ॥

कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-

न्याभान्ति दीर्घबलभोनि सवेदिकानि ।

गान्धवंशब्दमुषराणि निविष्टचित्र-

कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥ ११ ॥

जिस दशपुर के भवन—कैलास पर्वत के गगनबुम्बी शिखरों के समान बड़े
ऊँचे-ऊँचे छत्रों चबूतरों तथा मुन्दर चित्रों से सुशोभित थे, और जिन भवनों के
शीरोदान लहलहाते कदली-टुम्हों से शोभायमान थे ॥ ११ ॥

प्रासादमालाभिरलकृतानि घरा विदार्यैव समुन्यतानि ।

विमानमान्नासदृशानि यत्र गृहाणि पूर्णन्दुकरामन्यानि ॥ १२ ॥

वहाँ के भवन पूर्ण चद्र की किरणों के सदृश स्वच्छ हैं, और मजिजा की
परम्परा ने अलकृत ऐसे ललित हो रहे हैं मानो पृथ्वी को फाड़कर ऊपर उठ
बाये हुए विमानों की पत्ति हो ॥ १२ ॥

यद्मात्यभिरभ्यसरिद्दयेन चपलोमिता समुपगूढम् ।

रहसि कुचशालिनीन्या प्रीतिरतिभ्या स्मराङ्गमिव ॥ १३ ॥

बचल सहरोवाली दो नदियों से घिरा हुआ यह नगर ऐसा रूप रहा मानो उरोज वाहिनी प्रीति और रति नाम की दोनों स्त्रियों से एकान्त है।
कार्त्तिकीय होता हुआ बानदेव का शरीर हो ॥ १३ ॥

सत्यसनादमगनवनरौचधैर्यै-

स्वाध्यापिवृत्तविनपत्पिनिवृद्धधुनेः ।

विद्यातपोनिधिभिरन्मयिनैश्च विप्रै-

यद् भ्राजते ग्रहगणैः खनिव प्रदीपैः ॥ १४ ॥

सच्चाई, सहजसौलता, सत्य, शान्ति, विदम, पवित्रता, शीला, स्वाध्या-
सरलता, विनयसौलता, स्मिरता और तीव्र बुद्धि जगद्वि मुक्तों से युक्त, विद्या
तप के धर्मों, अग्निमान-रहित ब्राह्मणों से परिपूर्ण यह नगर बनकर हुए नक्षत्रों से
नरपूर आकाश के समान हो रहा है ॥ १४ ॥

वय समेत्य निरन्तरमगनेरुहः प्रविजृम्भितगोहृदाः ।

नृपतिमिन्सुतवद् प्रतिमानिता प्रनुदितान्पदसन्त मुखं पुरे ॥ १५ ॥

इसके बाद, अनवरत पारस्परिक सम्पर्क के कारण दिनानुदिन बढ़ती हुई
मित्रता से युक्त और राजाओं द्वारा पुत्र के सहज सम्मानित अत एव प्रसन्नचित्त,
चित्तवीर्य सुहृद्वर्क उस नगर में रहने लगे ॥ १५ ॥

श्रवणनुमगे गान्धर्वेभ्ये दृढ परिनिष्ठिताः

सुवारितगतासङ्गाः केचिद्विचित्रकथाविदः ।

विनयनिर्नृता सम्यग्धर्मप्रमगपरमयाः

प्रियनवरपं पथ्यं चान्ये क्षमा दहृ नापितुन् ॥ १६ ॥

उन दिलियों में से कुछ लोग बानों की मुख पहुँचाने वाली संगीत विद्या में
पूर्ण रूप से निपुण थे, कुछ लोग संवादों सुन्दर चरित्रों वाली विचित्रकथाओं के
आनन्दार थे, कुछ लोग विनीत अत एव शान्त स्वभाव के थे, कुछ लोग सदाई
धार्मिक प्रसंगों में प्रवृत्त थे और दूसरे लोग सुखद, बोधक और हितकारी बचन
बोलने में अति समर्थ थे ॥ १६ ॥

केचित्त्वकर्मैष्यधिवास्तधान्यैर्विज्ञापते ज्योतिषनात्मवद्भिः ।

वयापि चान्ये मनश्छगत्तमाः बुवंन्परयोगानहितं प्रसह्य ॥ १७ ॥

जनमें से कुछ दिली रक्षण करने के करने छद्मनाय में विस्तार दे, कुछ

न-संयमी लोग ज्योतिष-शास्त्र के मनज्ञ थे और रणभूमि में धर्मशाली कुछ भी बटकर शत्रुओं का सहार करते थे ॥ १७ ॥

ज्ञाना मनोज्ञवपुः प्रथिनोरुवंशा वशानुरूप चरिताभरणास्तथान्ये ।

अचरनाः प्रथमिनामुपकारदक्षा विश्रम्भपूर्वमपरे दृढमौहदाश्च ॥ १८ ॥

उनमें से कुछ लोग बुद्धिमान्, सुन्दर शरीर वाले, विख्यात और उच्चकुल होने, कुल के अनुकूल आचरण रूपी अलङ्कार बाने, सन्धपरायण, प्रेमियों के सफार में कुशल और विश्वासपूर्वक दृढता से मित्रता को निभाने वाले थे ॥ १८ ॥

विजितविषयमङ्गैर्धर्मशीलेस्तथान्यैर्मृदुभिरधिकसत्त्वैर्लोक्यान्नामरेश्वरैश्च ।

वकुलतिलकभूनेर्मुक्तरागैर्दरैरधिकमभिबिभाति श्रेणिरेव प्रकारैः ॥ १९ ॥

इस प्रकार उन शिल्पियों का समूह—सासारिक विषयों को धीउने वाले नाना, कोमल स्वभाववाने, अत्यधिक शक्तिशाली लोक व्यवहार में देवता के स्तन, अपने कुल में तिलक स्वरूप, वासना से रहित और उदार प्रकृति के लोगों में अत्यधिक सुगोमित था ॥ १९ ॥

तारुष्यकान्त्युपचिनोऽपि सुवर्णहार-

ताम्बूलपुष्पविधिना समलकृतोऽपि ।

नारीजनः त्रियमुपैति न तावदग्र्या-

यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि घत्ते ॥ २० ॥

सुवर्ण प्रयुक्त सोन्दर्य से सम्पन्न होने पर भी, सोने के हार, ताम्बूल और नारियलों से प्रसाधित होने पर भी वहाँ की लक्ष्मणों तक तक परम शोभा को ही प्राप्त करतीं जब तक रेशम के युगल वस्त्रों का परिधान नहीं कर लेती थीं ॥ २० ॥

स्पर्शवना वपान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन ।

यैः सकलमिदं क्षितिलमलङ्कृतं पट्टवस्त्रेण ॥ २१ ॥

उन शिल्पियों ने छूने में मुलायम, मिश्र-मिश्र रंगों के समुचित विभाग से

१. साट देश के रेशम बुनकर, जो दण्डुर के राजा के गुणों और नगर का रमणीयता पर मुख्य होकर वहाँ चले आये थे और अनेक प्रकार के व्यवसाय में व्यस्त हो गये थे । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय जातिगत परभाव की परम्परा बूझ नहीं हो पायी थी ।

अद्भुत और नेत्रों को आनन्दित करने वाले रेणुमी वस्त्रों से इस सम्पूर्ण पृथ्वी को सुनग्मित कर दिया था ॥ २१ ॥

विद्याधरीरुचिरपल्लववर्णपूरवातेरितास्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकम् ।
मानुष्यमर्थनिचयाश्च तथा विद्यालाम्तेषा शुभा मतिरभूदचला ततस्तु ॥२२॥

विद्याधरियों के सुन्दर, पल्लवनिमित्त और वायु-प्रेरित अत एव पर्वत-वर्णभूषण के समान इस मत्स्यलोक को सगणगुर समस्त कर और करने पर समूह को विद्याल मानकर उन जिलियों ने अपने मन में हिटकारी और दृढिष्य (मूर्धमन्दिर निर्माण करने का) कर लिया ॥ २२ ॥

चतु समुद्रान्तविलोलेखला सुमेरुवैलामवृहत्पयोवराम् ।

वनान्नवान्तस्फुटपुष्पहासिनी कुमारगुप्ते पृथिवी प्रणामति ॥ २३ ॥

चारों समुद्रों के तट ही जिसकी चचल करघनी, सुमेरु और वैलाय है उन्नत उरोत्र है, विषित पथो में गिरे हुए विकसित कुमन-समूह ही जिसके हाथ हैं, उस वसुधरा (भारतवर्ष) पर जब कुमारगुप्त प्रणामन कर रहे थे (उन्होंने 'विश्ववर्मा' को राज्यपाल बनाया" अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध-) ॥ २३ ॥

समानधी. शुक्रवृहस्पतिभ्या ललामभूतो भुवि पार्थिवानाम् ।

रणेषु य पार्थममानवर्मा बभूव गोता नृपविश्ववर्मा ॥ २४ ॥

(कुमारगुप्त के राज्यकाल में) राजा विश्ववर्मा "राज्यपाल" नियुक्त किया गया । वह विश्ववर्मा बुद्धि में शुक्राचार्य और वृहस्पति के समान था, पृथ्वी भर के राजाओं में गिरोनुषण के समान था और समरभूमि में पार्थ के समान था ॥ २४ ॥

दीनानुकम्पनपरः कृपणानं वगंमान्त्रप्रदोऽधिकदयालुरनाथनाथः ।

कल्पद्रुम. प्रणयिनामभयप्रदश्च भौतम्य यो जनपदस्य च वन्धुरामोन् ॥२५॥

वह विश्ववर्मा—दीनों पर दया करने वाला, दरिद्र अत एव दुखी लोगों को सान्त्वना प्रदान करने वाला, असाधारण दयालु, अनाश्रितों को आश्रय देने वाला मित्रों के लिये कल्पद्रुम के समान, भयभीत लोगों को अमय-दान देने वाला और प्रजा-जनों में भ्रानु-नाथ रहने वाला था ॥ २५ ॥

१. सम्राट् कुमारगुप्त के राज्यकाल में नृप विश्ववर्मा मन्दसौर का स्वामी शासक था ।

तस्यात्मज. स्वयंनयोपपन्नो बन्धुप्रियो बन्धुरिव प्रजानाम् ।

बन्ध्वार्तिहर्ता नृपबन्धुवर्मा, द्विद्दत्तपक्षक्षपणकदसः ॥ २६ ॥

उसका लड़का राजा बन्धुवर्मा हुआ । वह हृदय एव नोनिमान् था, बन्धुवर्मा का प्रियपुत्र था, प्रजाजनो के क्रिय भाई के समान था सम्बद्ध लोगों के 'दुःखों को दूर करने वाला था और शत्रुओं एव अहंकारियों के समुदाय का सहार करने में अद्वितीय निपुण था ॥ २६ ॥

कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च

राजाऽपि सन्नृपसृतो न मदे स्मयाद्यै ।

शृङ्गारमूर्तिर्गभिभात्यनलकृतोऽपि

रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

वह (बन्धुवर्मा) अभिराम, तरुण, युद्धनिपुण और विनीत था, सर्वसंपन्न गणक होता हुआ भी अहंकार आदि दुर्गुणों से रहित था, आभूषणों के अभाव में भी शृङ्गार की साक्षात् प्रतिमा के समान मोहित हो रहा था अत एव सौन्दर्य में मानो दूनरा कामदेव ही था ॥ २७ ॥

वैषव्यतीव्रव्यमनक्षताना स्मृत्वा यमद्यान्यरिमुन्दरीणाम् ।

भयाद् भवत्यायनलोचनाना घनन्ननायामकर प्रकम्पः ॥ २८ ॥

जिन (एतन्मूदन बन्धुवर्मा) के स्मृति-जन्य भय से आज भी—वैषव्य की शिष्य वेदना से व्यथित विशालाक्षी वीरि-बन्धुआ के पीन वक्ष म्यल में श्लेश-कारक कम्पन उत्पन्न हो जाता है ॥ २८ ॥

तस्मिन्नेव क्षितिपतिवृषे बन्धुवर्मप्युदारै

सम्यक्स्फीतं दशपुरमिद पालयत्युन्नतासे ।

शिल्पावाप्तैर्धनसमुदयेः पट्टवायैरुदारं

श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारित दीप्तरस्मेः ॥ २९ ॥

राजाओं में श्रेष्ठ, उदार और उन्नत स्वरूप वाले उस बन्धुवर्मा के द्वारा समृद्ध दशपुर के गुबारु शासन में ही—शिल्प-लक्ष्य द्रव्यराशि से सम्पन्न शिल्पियों के समवेत रूप से भगवान् मास्कर का अनुपम एवं मध्य भवन बनवाया ॥ २९ ॥

विस्तीर्णंतुङ्गशिखरं शिखरिप्रकाश-

मभ्युदगतेन्दुमलरश्मिकलापगौरम्

यद् भाति पश्चिमपुरस्य^१ निविष्टकान्त-
चूडामणिप्रतिसमं नयनाभिरामम् ॥ ३० ॥

पर्वत सद्य आयत और उन्नत शिखरो से युक्त, उदीयमान चन्द्र के विमल अशु-जाल के सद्य उज्ज्वल, पश्चिम देश की राजधानी दशपुर में जटित श्विर चूडामणि के समान, नेत्रों को मुग्ध कर देने वाला वह मन्दिर घोमायमान था ॥ ३० ॥

रामासनाथभवने दरभास्करागुवह्लिप्रतापमुभगे जलन्तीनमीने ।
चन्द्राशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे ॥ ३१ ॥

(जिस ऋतु में) केलिमवनो में पति-पत्नी का मिलन होता रहता है, सूर्य की मन्द किरणों और अग्नि का तेज प्रिय लगता है, मछलियाँ जल के भीतर ही छिपी रहती हैं, महलों का चन्द्र-किरण के समान शीतल निचले खण्ड, चन्दन, पहे और हार आदि का सेवन नहीं किया जाता है, हिमपात से कमल मल जाते हैं (उस हेमन्त ऋतु में —श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३१ ॥

रोध्रप्रियगुत्तस्कुन्दलताविकोशपुष्पामवप्रमुदिनालिबुलाभिरामे ।
काले तुपारवणककंशशीतवातवेगप्रनृत्तलवलीनगणकशाखे ॥ ३२ ॥

जो ऋतु लोघ्र और प्रियगु दूषों के, कुन्द की लताआ के,—विकसित पुष्पों के मधुपान से प्रफुल्लित मधुकर निर-गुञ्जन से मनोरम रहता है, जिसमें हिमकण-मिश्रित अथ एव तीव्र एव शीतल वायु के वेग से ध्वन्दलित 'लवली' और 'नगण' नामक पुष्प-विशेष की शाखा की घोमा अपूर्व हो जाती है (उस ऋतु में—श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३२ ॥

स्मरवशागनरणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तर्गोनीर-
स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भत्सितनुहिनहिमपाते ॥ ३३ ॥

(जिसमें) कामामिमूठ युवक वृन्द अपनी-अपनी प्रियसी के पृथुल, मनोहर और पौन जघों, कु-बों और पेहुओं के गाढ आनिगन से अति शीतल हिमवर्षण को भी तिरस्कृत कर देना है (उस ऋतु में—श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३३ ॥

१. दशपुर को ही पश्चिमपुर कहा जाता था । क्योंकि उस समय यह पश्चिम, भारत का सर्वप्रथम नगर माना जाता था ।

मालवाना^१ गणस्थित्या याते दशतचतुष्टये ।

त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यधनस्वने ॥ ३४ ॥

मालव-संवत् की गणना के अनुसार चार सौ तिरानवे वर्ष बीत जाने पर-
बादलों के गर्जन से अच्छे लगने वाले हेमन्त ऋतु में (मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई—
श्लोक ३५ से सम्बन्ध) ॥ ३४ ॥

सहस्यमामशुक्लस्य प्रशस्तेर्जह्ण त्रयोदशे ।

मङ्गलाचारविधिना प्रासादोऽप्य निवेशितः ॥ ३५ ॥

पौष मास के शुक्ल पक्ष की पवित्र त्रयोदशी तिथि में माङ्गलिक विधिपूर्वक
इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की गई (अर्थात् मन्दिर में सूर्यदेव की प्रतिमा
प्रतिष्ठित की गई) ॥ ३५ ॥

बहुना समनीतेन कालेनान्यंश्च पार्थिवैः ।

व्यशीर्यंतैवदेशोऽप्य भवनस्य ततोऽधुना ॥ ३६ ॥

उसके बाद, अन्यान्य परवर्ती राजाओं के द्वारा बहुत समय व्यतीत कर दिये
जाने के अनन्तर उस सूर्य-मन्दिर का एक भाग टूट गया इसके बाद अब (फिर
उसका जीर्णोद्धार किया गया—श्लोक ३७ से सम्बन्ध) ॥ ३६ ॥

स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।

सत्कारितमिदं भूय श्रेण्या भानुमनो गृहम् ॥ ३७ ॥

(इसके बाद अब) अपनी कीर्ति को बढ़ाने के लिये, उस उदार शिल्पि-
समूह ने इस समस्त विशाल सूर्य-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया ॥ ३७ ॥

अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैः शिखरैः ।

राशिभान्वोरभ्युदयेष्वमलमयूस्तायननभूतम् ॥ ३८ ॥

(इस प्रकार मरम्मत होने के बाद) बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अपने सुन्दर
शिखरों से आगमान को घूमना हुआ यह मन्दिर मानो चन्द्रमा और सूर्य के
उदयकालीन निर्मल किरणों का विश्राम-स्थल था ॥ ३८ ॥

१. मालव-गण में प्रचलित संवत् । मालव गण अपने मूल निवास-स्थान
पञ्जाब से यह संवत् लाये थे । विन्तु संभवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने जब
उहाँ से मालवा जीता, तब उसका नाम "विक्रम संवत्" पड़ गया । बहुत
प्राचीन समय में इसी को "वृत्त संवत्" भी कहा जाना था ।

वत्सरगतेषु पञ्चमु त्रिगन्धधिकेषु नवमु चाल्देषु ।
यानेष्वभिगम्यतपस्वमामधुबलद्वितीयायाम् ॥ ३९ ॥

पाँच सौ उनतीस वर्षों बाद जन के बाद मनभावन पागुन के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को (इस पुनःसृष्ट मूर्धनन्दिर से दशपुर जन्म हो गया— स्तोत्र ४२ से सम्बन्ध) ॥ ३९ ॥

स्पष्टरसोत्तम केनकमिन्दुवारलाघातिमुत्तमनामदयन्तिकानाम् ।
पुष्पोद्गमंरभिनत्रैरधिगम्य नूनमैक्य त्रिजृम्भितशरे हरपूतदेहे ॥ ४० ॥

पागुन के उस भाद्र पहीने में, जब कि महादेव के विषम लोचनानल से मस्मीभूत जन एव पवित्र शरीर वाला कामरूप-अशोक वृक्ष, केवडे, मिन्दुवार और लहराती इन्हें 'अतिमुत्क' लता और मद्यन्तिका' के सद्यःप्रसूटित पुञ्जीभूत प्रभूर्नों में अपने शरों का समूह करता है ॥ ४० ॥

मधुपानमुदितमधुवत्कृत्वापगोननगणैकपृथुशास्त्रे ।
काले नत्रकुमुभोद्गमदन्तुर्कान्निप्रचुरुरोघ्रे ॥ ४१ ॥

जिम पागुन में भकरन्द पान में मन्त्र मधुर्नों की गूँज से नर्गनों की शाखा अपनी सानी नहीं रखती और नूनन मुमना के विक्रम से रोध्र द्रुमों में उत्कर्ष और श्री की समृद्धि हो रही है ॥ ४१ ॥

शशिनेव नभो विमलं कौस्तुभमग्निनेव शार्ङ्गिणो वक्ष ।
भवनवरण तथेद पुरमस्त्रिणाडङ्कनमुदारम् ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार निर्मल आकाश चन्द्रमा में और भगवान् विष्णु का वस-स्थल कौस्तुभ मणि में सुशामित होत हैं उसी प्रकार यह समस्त समूह दशपुर नगर इस दिव्य मन्दिर से मण्डित हो रहा है ॥ ४२ ॥

अमलिनशशिलेखादन्नुर पिङ्गलाना
परिवहति सन्ह यावद्दीप्तो जटानाम् ।
विकचकमलमालाममनचा च शार्ङ्गी
भवनमिदमुदार शाश्वत तावदस्तु ॥ ४३ ॥

जब तक भगवान् शर धवल चन्द्रकला से नवीशत, पीतवर्ण के जटाजूट को धारण करते हैं और जब तक भगवान् विष्णु अपने कर्णों पर प्रसूटित पद्ममाला को धारण करते हैं, तब तक यह भव्य भवन स्थायित्व को प्राप्त करे ॥ ४३ ॥

श्रेण्यादेशेन मन्व्या च कारित भवन ग्वे ।

पूर्णा चैव प्रयन्नेन रचिना वत्समट्टिना ॥ ४४ ॥

स्वस्ति कर्तृलेखकवाचकश्रोतृभ्य ।

सिद्धिरन्तु ।

सिलिप-समाज के आदेश एव श्रद्धा से भगवान् सूर्य का यह मन्दिर बनवाया गया । और उपर्युक्त प्रशस्ति को वत्समट्टि न यत्न पूर्वक रचना की ॥ ४४ ॥

प्रशस्ति के रचयिता, लिपिक, पाठक एव श्रावकों का कल्याण हो ।

सिद्धि हो ।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

विषय—यद्यपि इस अभिलेख में मुख्यरूप से रेशमी बुनकरों द्वारा मालवा के मन्दसौर या दसपुर नगर में सूर्य-मन्दिर के निर्माण की घटना का वर्णन है । अतः इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण की सामग्री तो कम ही है, फिर भी कवि ने इसमें तत्कालीन त्रिस भारताय सामक की चर्चा की है वे हैं गुप्तवर्ष के सबसे प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम । अभिलेख के २३ वें श्लोक के अन्तिम चरण में कवि ने स्पष्टरूप से कुमारगुप्त का उल्लेख किया है—“कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशामति” । इतना ही नहीं, उन्होंने २४ वें और २६ वें श्लोक में मालवा देश के तत्कालीन प्रांतीय सामक नून विश्ववर्मा और उनके पुत्र दसपुर नगर के शासक बन्धुवर्मा का नामाल्नेष भी किया है । इसके साथ ही कुमारगुप्त प्रथम के समय में जब बन्धुवर्मा दसपुर नगर का शासन कर रहा था तो दसपुर नगर की रमणीयता पर मुग्ध हाकर लाट देश के रेशमी बुनकरों का मन वहाँ आकर अतना व्यवसाय करने लगा और अपने व्यवसाय से प्राप्त धन से उसने राजा की आज्ञा से नगर में एक भव्य सूर्य मन्दिर बनवाया । कुछ दिनों बाद वह मन्दिर भग्न हो गया जिसका पुनर्निर्माण उन्हीं लोगों ने फिर किया । संक्षेप में इस अभिलेख से यह घटना ज्ञात होती है । अब आगे हम सभ्य में अभिलेख में आये कुमारगुप्त और इससे निकलने वाले कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करेंगे ।

समय—अभिलेख के ३९ वें श्लोक में ‘बन्धुरघतेषु पञ्चसु विजयवधिकेषु नवसु चाग्देसु’ इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि पट्टनायथेनी द्वारा सूर्य-मन्दिर को मरम्मत पाठक संवत् ५२९ में फागुन महीने के शुक्लपक्ष की त्रितीया तिथि

में हुई थी। अमिलेख की रचना का भी समय यही होना चाहिए। मालव सवत् ५२९, जो विष्णु सवत् से भी प्रसिद्ध है, की ४७३ ईस्वी माना गया है।

कुमारगुप्त का परिचय — गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका बेटा पुत्र कुमारगुप्त राज्य-सिंहासन पर बैठा। चन्द्रगुप्त विहमादित्य ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी भ्रुवस्वामिनी से विवाह किया था। उसी भ्रुवस्वामिनी का पुत्र कुमारगुप्त था। इन बात का संकेत हमें स्कन्दगुप्त के “भित्तरी” (Bhattari) रूप-लेख के ‘महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्या प्रवदेव्यामुन्द-शतस्य महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य’ इस वाक्य से मिलता है। बाद ही विहार के बंगाली नामक स्थान में प्राप्त मिट्टी की मुहरों से यह भी ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त नाम का कुमारगुप्त का एक भाई था जो कुमारगुप्त के प्रतिनिधि के रूप में बंगाली का शासन करता था। उन मुहरों में गोविन्दगुप्त की माता भ्रुवस्वामिनी के साथ गोविन्दगुप्त या एक साथ उल्लेख मिलता है—“महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज श्री गोविन्दगुप्त-माता महादेवी भ्रुवस्वामिनी।” इन मुहरों से यह ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त, कुमारगुप्त का छोटा भाई या ज्यौर कुमारगुप्त बड़ा होने के कारण राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी बना था।

राज्यकाल — कुमारगुप्त के बहूत से त्रिपिटक अभिलेखों और मुद्राओं से हम उसके राज्यकाल का निश्चय कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सबसे अन्तिम साँचीवाले गुप्त सवत् ९३ के लेख से यह मालूम होता है कि ई० सन् ४१३ के बाद राज्य का शासन भार कुमारगुप्त के बन्धे पर आ गया था। कुमारगुप्त के भिलसद अभिलेख से इस बात की पुष्टि हो जाती है, जिसकी तिथि गुप्त सवत् ९६ (ई० सन् ४१५) है। कुमारगुप्त के चाँची के निकटों पर उसकी सबसे अन्तिम तिथि गुप्त सवत् १३६ मिलती है। इसके साथ ही कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त की सबसे पुरानी लिखित तिथि जूनागढ़ अभिलेख में गुप्त सवत् १३६ (ई० सन् ४५५) है।

इन उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१३ से लेकर सन् ४५५ ई० तक राज्य किया।

राज्य-विस्तार :—कुमारगुप्त प्रथम के किसी भी अभिलेख या अन्य उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं ज्ञात होता है कि उसने अपने पिता अथवा पितामह की भाँति विजय-यात्रा करके अपने राज्य का विस्तार किया था। हाँ! इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उसने अपने पिता से प्राप्त विजय साम्राज्य का सुन्दर

बग से शासन-प्रबन्ध किया और उसकी अन्त तक सुरक्षा भी की। उसकी राज्यसीमा पूर्व में बगाल और पश्चिम में सौराष्ट्र तक उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। उस समय कुमारगुप्त के सामन्त के रूप में "नृप विश्ववर्मा" मालव देश का शासन कर रहा था और उसी का पुत्र बन्धुवर्मा मालव देश के दणपुर नगर का प्रशासक था। इसके द्वारा नियुक्त चिरानदत्त और घटात्कच क्रमशः उत्तरी बगाल और पूर्वी मालवा पर शासन करता था। इस प्रकार कुमारगुप्त का शासन बड़ा ही शान्तिपूर्ण था। उसके शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य का वैभव चरमोत्कर्ष पर था। अतः उसका शासन-काल बड़ा ही सुखमय था किन्तु कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम समय में उसे पुष्यमित्रों से युद्ध करना पड़ा, जो बड़ ही शक्तिशाली हो गये थे। कुमारगुप्त उस समय वृद्ध था अतः एव उसके योग्य पुत्र स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रा का बटकर मुकाबिला किया और उन्हें परास्त भी किया। इसकी पुष्टि भित्तरी के प्रस्तर स्तम्भ लेख के "विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन ... समुदितबलकोद्यान् पुष्यमित्राथ जित्वा ... " इस अंग से होती है।

अश्वमेध यज्ञ तथा धार्मिक सहिष्णुता—यद्यपि कुमारगुप्त ने कोई विजय-यात्रा नहीं की थी, जिसके फलस्वरूप वे अश्वमेध यज्ञ करते लेकिन चूँकि उनके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय और पितामह समुद्रगुप्त ने यह यज्ञ अपनी विजय के उपलक्ष्य में किया था, इसलिए कुमारगुप्त ने भी अपने सुख्यवस्थित साम्राज्य में अश्वमेध यज्ञ की परम्परा की सुरक्षा की थी इस बात का सबैत हमें उसके सोने के उन सिक्कों में मिलता है जिनके पृष्ठ पर "श्री अश्वमेध महेन्द्र" यह उल्लेख पाया जाता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसने यह उपाधि अश्वमेध यज्ञ के बाद धारण की होगी। क्योंकि अन्य उपाधियों के रहते हुए भी कुमारगुप्त सामान्यतः महेन्द्रादिव्य के नाम से ही विख्यात था।

अपने पूर्वजों की भाँति ही कुमारगुप्त बट्टर ब्राह्मण-धर्मानुयायी होकर भी और धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसने अपने सुदीर्घ शासन-काल में मन्दिरों और धर्मों के लिये अनेक प्रकार के दान दिये। मानकुँवर और साँची के अभिलेखों से यह पता लगता है कि उसने बौद्ध-विहारों के भी निर्माण में मुक्त हाथों से दान दिया था। ब्राह्मण धर्म के देवताओं में उसने सूर्य, शिव, विष्णु और शक्तिवैद्य की अधिक प्रशंसा दिया था। कुमारगुप्त ने देवताओं में सर्वाधिक

महत्त्व कार्तिकेय को दिया था। अत एव उसके चित्रों से यह ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के स्थान पर कार्तिकेय ही इन्द्रदेव के रूप में पूजा का स्थान प्राप्त कर चिप्ये। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमारगुप्त एक प्रभावशाली शासक, परम वैष्णव, धर्ममहिष्णु, दानवीर तथा प्रजापालक सम्राट् था।

इसके अनिर्दिष्ट मन्दिर शिलालेख से निम्नलिखित बातों का आभास मिलता है —

(१) गुप्तवंश में कुमारगुप्त नाम के दो राजे हो चुके हैं जिसमें इस अभिलेख का सम्बन्ध कुमारगुप्त प्रथम से है।

(२) अभिलेख के विवरण से यह पता लगता है कि उस समय दणपुर में सूर्य-मन्दिर का निर्माण, और नष्ट हो जान पर उसका पुनर्निर्माण में दो घटनाएँ मिलती हैं, जिनमें कवि ने मन्दिर निर्माण के समय विद्यमान वहाँ के शासक का नामोल्लेख तो किया है किन्तु पुनर्निर्माण के समय के शासक का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि मन्दिर-निर्माण के समय उत्तरीय शासक का नामोल्लेख करना चाहिए" यह सोचकर ऐसा जिया गया किन्तु पुनर्निर्माण के समय सम्भवतः दणपुर का कोई शासक नहीं था, अतः "कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति" के द्वारा पुनर्निर्माण की घटना के समय कवि ने प्रथम कुमारगुप्त की खर्चा की है।

(३) "कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति" से कवि का तात्पर्य मालव-सवत् ४९३ में मन्दिर का निर्माण और मालवसवत् ५२९ में उसका पुनर्निर्माण इन दोनों घटनाओं के समय में "कुमारगुप्त" इस एक ही नाम को धारण करने वाला एक केन्द्रीय महाशासक था।

मन्दिर निर्माण के ३६ वर्षों बाद ५२९ मालव-सवत् में उसके पुनर्निर्माण की घटना के समय कुमारगुप्त द्वितीय के शासन करने की भी सम्भावना को जा सकती है।

शिलालेख की साहित्यिक विशेषताएँ

विषय :—मुख्य रूप से इस अभिलेख में कल्पवृक्ष ने टाट देण से दणपुर आये हुए रेणुमी बुनकरों द्वारा वहाँ पर सूर्य-मन्दिर के निर्माण और दणपुर नगर का सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रकार यह एक प्रकार का भाग्यदायिक अभिलेख माना जाता है। यह प्रशस्ति बँदनी रीति का आश्रय लेकर सरल

काव्य की रचना में सिद्धहस्त कवि की लघुकाव्य के रूप में सर्वोत्कृष्ट कमनीय कृति है तथा यही कृति बल्लभट्टि को संस्कृत के उत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में बैठाती है।

बल्लभट्टि ने अपनी प्रशस्ति का शीर्षक न देकर 'पूर्णां चेष्य प्रयत्नेन रचिता बल्लभट्टिना' इन कथन में 'पूर्णां' शब्द में ही उमकी ओर संकेत किया है। इसने इस बात का संकेत मिलता है कि पञ्चम शताब्दी में मन्दिर-निर्माण तथा अन्यान्य सामाजिक हित के कार्यों को प्रशाना में ऐसी-ऐसी प्रशस्तियों की रचना की जाती थी।

साथ ही "प्रयत्नेन रचिता" इस प्रयोग से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने अलंकारशास्त्र का गहन अध्ययन करके तब उन नियमों का माझीमाझी निर्वाह करते हुए अपनी कृति का निर्माण किया है, जैसा कि उनके इस अभिलेख के काव्यगत गुणदोषों के विवेचन से स्पष्ट होगा।

शैली :—यों तो सर्वत्र वंदर्भों रीति का ही आश्रय लेकर काव्य-रचना की गई है किन्तु स्थान स्थान पर वर्णविषय के अनुकूल दीर्घ समाग का आश्रय लेकर गौडी बन्ध का सश्रित्वेण किया गया है। गौडी रीति का उदाहरण हम ३२ वें एवं ३३ वें श्लोक में पाते हैं। पद्य में लम्बे लम्बे समागों का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया गया है। पुरा ३३ वाँ श्लोक एक ही समागपूर्ण वाक्य में लिखा गया है। कवि ने अपने वर्णविषय के अनुकूल ध्वनियों के नाद उपस्थित करने-वाले शब्दों का गुम्फन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। एक ही पद्य में अनेक रमों का समाहार है नायक की उदात्तता दिखाने के लिये कोमल पदों का विन्यास यहाँ किया गया है वहीं उसके शीर्ष और औद्धत्य के वर्णन में परत्य शब्दों के प्रयोग से अपनी वर्णन-पद्धति को बहुमुखी प्रमाणित कर दिया गया है।

'तथ्यात्मजः' इस २६ वें श्लोक में कोमल एवं परत्य उभयविध शब्दों का समन्वय विषय की अनुकूलता को ध्यान में रखकर ही किया गया है। श्लोक के अन्तिक पाद में रौद्ररम के अनुकूल ही पदावली का प्रयोग है।

अलंकार :—अलंकारों में उच्छालंकार और अर्पालंकार इन दोनों का प्रयोग किया गया है। उच्छालंकार में अनुश्राम का विशेषकर वर्णानुश्राम का प्रयोग किया गया है। पशानुश्राम का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्णानुश्राम का उदाहरण तो प्रायः सभी श्लोकों में मिल जाता है। पदानुश्राम का उदाहरण हम २६ वें श्लोक में बहु शब्द के तीन बार के प्रयोग में पाते हैं।

अर्पालंकारों में उरना, उरनेवा एवं रूपक का उदाहरण बहुत अधिक मिलता है। कवि की उरना की छटा बालिदान की उरना की स्तूति दिला देती है—“बलपटाहान्यबलाननाप—” इस १० वें श्लोक में कवि ने दण्डुर नगर के भवनो के ऊँचे ऊँचे शिव-लिखों की उरना विदम्बता की दृष्टि से रग-विरग बने शिवरूप के टुकड़ों से की है। इसी प्रकार “ननानधीः” इस २४ वें श्लोक में विश्ववर्मा की वृद्धि तथा वाग्म्या की उरना देवगुरु वृहस्पति तथा ऋषुं से की गई है।

इसी तरह—२० वें श्लोक में दण्डुर नगर में विगारमान सूर्य-मन्दिर की चौदार्द और ऊँचार्द की उरना परंतु के लिखों में भी गयी है और माघ ही पश्चिम देश की राजधानी में गोमायमान इस मन्दिर की उरना आनुषणों में जटित घूटानधि से की गयी है। सबसे सुन्दर उरना का उदाहरण हमें—४२ वें श्लोक में मिलता है। वहाँ इस सूर्य-मन्दिर ने युक्त दण्डुर नगर की सुलगा चन्द्रमा से युक्त स्वच्छ आकाश से और बौलुभनधि-विभूषित दिष्णमयगत के बस-स्वल से की गयी है। इसी प्रकार १३, २६ एवं २७ वें श्लोक में भी उरना अलंकार है।

उत्प्रसालकार की छटा दो बड़ी ही सुन्दरारी है। देखिये—१२ वें श्लोक में कवि ने उरना के माघ ही अनुमान का बँना सुन्दर ननन्वय किया है—वहाँ के भवन पूर्णचन्द्र की किरणों के मध्य स्वच्छ और मँडिलों की परमण से अलङ्कृत ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो पृथिवी को चौर कर ऊपर उठ जाने हुए बिनानों की पल्लि हो।

इसी प्रकार बन्धुवर्मा के चरित्र-चित्रण और मीन्दय-वर्णन के प्रसंग में—२७ वें श्लोक में कवि ने बन्धुवर्मा को रूप में मानो ज्ञानदेव का दूनरा अवतार ही मान लिया है। इसी भाँति—३२ वें श्लोक में भी बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अने सुन्दर लिखों से आठमान की छूटा हुआ वह मन्दिर मानो चन्द्रमा और सूर्य के उदयकालीन निर्मल किरणों का विधानमन्दल हो। इस प्रकार उरनेवा का सुन्दर चित्र उपस्थित होता है।

रूपक अलंकार का उदाहरण हम “पुष्पावनम्रतरङ्गवर्षवर्षनवापाः” इस छोटे श्लोक के मृतीय चरण में पाते हैं। जहाँ पर पुष्प के मार से झुंके हुए दूध ही उस मालव भूमि के गोमानुषण हैं।

आगे २३ वें श्लोक में रूपक का सुन्दर विन्यास है। इसमें कवि ने चारों समुद्रों के तट को पृथिवी की डोल्ती बरधनी माना है। मुमेरु और कैलाश पर्वत को उमका स्तन और वनपर्वों में टपकते खिन्ने हुए फूलों को उमका हृम माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी छिटभुट रूप में रूपक का उदाहरण मिलता है।

छन्द :—इस अभिलेख में जहाँ तक छन्दों का प्रश्न है, उममें तो कवि ने कनाल दिखाया है काव्यगन्त्र के पालन के लिये और अपने छन्दशास्त्र के आधिपत्य को दिखाने के लिये कवि ने ४४ पद्यों की प्रशस्ति में लगभग १२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि शीघ्रता से छन्दपरिवर्तन के कारण रूप की गति कमजोर पड़ जाती है और इसीलिए छन्दमौन्दर्य पूर्णता उमर नहीं पाया है फिर भी छन्दों की विविधता अवश्य ही रोचक है।

कवि ने १, २ मगल श्लोकों में शार्दूलविकीरित छन्द का प्रयोग किया है। कवि ने वसन्तविलका का सर्वाधिक प्रयोग किया है। श्लोक सख्या ३, ५, ६, ११, १४, १८, २०, २२, २५, २७, ३०—३२ और ४० वें श्लोक में वसन्तविलका का उपयोग किया है। श्लोक सख्या ७—९, २४ में उपेन्द्रवया छन्द है। श्लोक सख्या १७, २६ में इन्द्रवया, श्लोक सख्या १०, १२, २८ में वनवाति (इन्द्रवया + उपेन्द्रवया) श्लोक सख्या १९ और ४३ में मालिनी, श्लोक सख्या १५ में दुनविलम्बित, १६ में हरिणी, २३ में वरुण्य, २९ में मन्दाकाण्ठा, श्लोक सख्या ४, १३, २१, ३३, ३८, ३९, ४१, ४२ इनमें आर्षा और ३४—३७, ४४ में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है।

वर्णन में अन्य कवियों से समता

दशपुर नगर के वर्णन में कवि ने बड़ी ही रुचि दिखलायी है। वत्समट्टि की इस प्रशस्ति में दशपुर के वर्णन में कालिदान के अलका-वर्णन को छाया स्पष्ट मिलती है। देखिये प्रशस्ति के—“.....चलत्पताकान्यवलासनाया.....गृहायि यन्” इस श्लोक में उत्तर मेघ के “विद्युदन्त सलितवनिता. सेन्द्रबाप सचिनाः” इस अलका-वर्णनपरक श्लोक से अनूर्व साम्य है।

इसी प्रकार वत्समट्टि के नदी-वर्णन के प्रसंग में उसे कामदेव की पत्नी की उल्लेखा करने की प्रेरणा कवि को सुबन्धु की वासवदत्ता से और बृहस्पति से मिली होगी। देखिये—प्रशस्ति के १३ वें श्लोक “रहसि कुवरासिनीम्य प्रीतिरतिम्या स्मराङ्गमिव” में “वासवदत्ता” के “रेवया प्रियतमयेव प्रसारित-

बीचिहस्तयोपगूढः" इस श्लोक की और बृहत्सहिता में "रहसि मदनसक्त्या रेवया बान्तयोपगूढम्" इस श्लोक की छाप स्पष्ट नजर आती है।

शिथिर ऋतु का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में हुआ है। कवि का यह ऋतु-वर्णन कालिदास के ऋतुसंहार के ऋतु-वर्णन से मिलता जुलता है। देखिये, कालिदास के—

"सद्यःप्रवालोद्गमचास्पत्रे नीते समाप्ति नवचूतबाणे ।

निवेशयामास मधु द्विरेफाः नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥"

इस वर्णन के आधार पर ही वत्समट्टि ने ४० वें श्लोक—“स्पष्टैरद्योक्तह-
केतकसिन्दुवार” में पाँच पुष्पो की तुलना कामदेव के पाँच बाणों से की है।

टिप्पणी

दशपुर—मन्दसौर।

विहार—फ्लोट महोदय के अनुसार इस शब्द का अर्थ “बौद्ध भिक्षुओं का आवास” है। इस शिलालेख के उत्कीर्ण होने के दिनों में दक्षिणी गुजरात में बौद्ध विहारों की संभावना भी की जा सकती है। किन्तु वत्समट्टि ने यहाँ पर इस शब्द को ‘आनन्द’ के अर्थ में प्रयोग किया है।

लाट-विषय—पश्चिमी मालवा का पश्चिमी इलाका। इसकी राजधाना नवसारीका थी।

श्रेणिरेवं प्रकारे.—लाट देश के रेघम बुनकर, जो दशपुर में बस गये थे, अनेक व्यवसाय करने लग गये थे। इससे यह प्रकट होता है कि जातिगत व्यवसाय रूढ़ नहीं हुआ था।

मालवाना गणस्थित्या—मालवगण में प्रचलित संवत्। ये लोग अपने मूल स्थान पंजाब से यह संवत् लाये थे, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य समवतः द्वितीय ने जब पार्श्वों से मालवा जीता तब उसका नाम ‘विक्रम संवत्’ पड़ गया। बहुत प्राचीन काल में इसी को ‘शुत्र’ संवत् भी कहते थे।

कारण्डव—एक प्रकार का हंस।

नृप विश्ववर्मा—यह मन्दसौर का स्थानीय शासक था, जब कि कुमारगुप्त सम्राट् था।

पश्चिमपुर—दशपुर को ही ‘पश्चिमपुर’ कहा जाता था। क्योंकि उस समय पश्चिम भारत का यह सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

(४) दशपुरस्थयशोधर्मराजकालिककूपशिलालेखः

[महाराजयशोधर्मणः शिलालेखः]

(मालव संवत् ५८९)

तिद्धम्

स जयति जगता पतिं पिनाकीं निम्नरखगीनिषु दम्प्य दन्तकान्ति ।

द्युतिरिव तडिना निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयन्त्यदश्च विश्वम् ॥१॥

सिद्धि हो ।

'पिनाक' नामक धनुष को धारण करनेवाले, समस्त विश्व के स्वामी उस एकर भागान् को जय हो जिनके मुक्कराहट सम्पन्ना और समान में प्रस्तुटित त्रियों की धामा, रात में छिटकती बिल्वी की चमक के समान इस संसार को तिरौट्टि और प्रशान्त करती रहती है ॥ १ ॥

स्वयन्मूर्त्ताना स्थितिलयममुत्पत्तिविधिषु
प्रमुक्तो येनाज्ञा वहति भुवनाना विधृतये ।

पितृन्व चानौतो जगति गरिमाण गमयना

स शम्भुर्भूमामि प्रतिदिशतु भद्राणि भवताम् ॥ २ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कार्य में जिनके द्वारा नियुक्त इत्या संसार के धारण के लिए उनके आदेश का पालन करते हैं, और इस प्रकार जो संसार में इत्या की महिमा को बढाते हुए उनकी नितामह के पद पर पहुँचाते हैं, वे शिव आन लोगों का मूर्ति-भूरि मंगल करें ॥ २ ॥

पानगिगुरुभाराकान्तिदूरावनम

स्वययति रचमिन्दोमण्डल मस्य मूर्ध्नाम् ।

स शिरसि विनिवधन् रन्ध्रिणीमस्थिनाला

सृजतु भवतुजो वः क्लेशमङ्ग मुजङ्ग ॥ ३ ॥

धन की मणियों के अत्यधिक बोध के कारण बहुत अधिक शुका हुआ जिनके मस्तकों का मडल धडमा की घोना को भी मन्द कर देता है, संसार की रचना

करनेवाले भगवान् शंकर के भस्त्रक पर छिद्रमयी हड्डियों की माला को आबद्ध करनेवाला वह सर्प आप लोगों के दुःखों को दूर करे ॥ ३ ॥

पृथ्वा सहस्रैः सगरात्मजानां स्वात् खतुल्या रुचमादधानः ।

अस्योदपानाधिपतेश्चिराय यशासि पायात्पयसा विधाता ॥ ४ ॥

राजा सगर के साठ हजार पुत्रों के द्वारा खोदा गया और आकाश के समान क्षीमा को धारण करनेवाला वह समुद्र चिरकाल तक कुएँ के स्वामी के यश की रक्षा करे ॥ ४ ॥

अथ जयति जनेन्द्र श्रीयशोधर्मनामा

प्रमदवनमिवान्त शत्रुसैन्य विगाहा ।

वणविसलयमङ्गयैर्ज्ञभूषा विधत्ते

तरुणतरुलतावद्वीरकीर्तीविनाम्य ॥ ५ ॥

अन्त पुर के श्रीशोचान के समान शत्रुओं की सेना को भीतर से विलोडित कर, घोरों की कीर्ति को नूतन वृक्षों की लता के समान झुकाकर, छवि रूपी पल्लव-रचनाओं से अपने अंगों को विभूषित करनेवाले जननायक यशोधर्म की जय हो ॥ ५ ॥

आजो जिती विजयते जगतीम्पुनश्च

श्रीविष्णुवर्धननराधिपति स एव ।

प्रख्यात औलिकरलाञ्छन आत्मवदृशो

येनोदितोदितपद गमिनो गरीय ॥ ६ ॥

इसके बाद फिर, सग्राम में भूमण्डल को जीतनेवाले, "औलिकर" उपनाम से प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण अपने वर को अत्युच्च पद पर पहुँचानेवाले राजा विष्णुवर्धन की जय हो ॥ ६ ॥

प्राचो नृपान् सुवृहत्श्च बहूनुदीचः

साम्ना युधा च वशगान् प्रविधाय येन ।

नामापर जगति कान्तमदो दुराप

राजाधिराजपरमेश्वर इत्युद्गढम् ॥ ७ ॥

और जिसने पूर्व के विविध राजाओं का तथा उत्तर के बहुत से राजाओं को घान्ति और युद्ध के द्वारा अपने अधीन करके ससार में सुन्दर और दुर्लभ "राजाधिराज परमेश्वर" उपनाम को प्राप्त किया (उसकी जय हो) ॥ ७ ॥

स्निग्धश्यामाम्बुदाभे. स्थगितदिनकृतो यज्वनामाज्यधूमै-

रम्भो मेध्य मघोनावधिपु विदधता गाढसम्पन्नसस्य. ।

संहर्षाद्वाग्निना कररभसहृतोद्यानचूताङ्कुराया

राजन्वन्तो रमन्ते भुजर्वाजनभुवा मूरयो येन देशाः ॥ ८ ॥

होनाओं की आहुति से उठे हुए चिकने और काले मेघों के समान धूमपटल से आच्छन्न सूर्य वाले, इन्द्र के द्वारा ठीक समय पर पवित्र जल की वर्षा की जाने के कारण प्रचुर धान्य से समृद्ध, विदग्ध वनिताओं के करपल्लव से मस्ती के साथ वेगपूर्वक उपवन की खीची जानी हुई आम्र मञ्जरीवाले अनेक देश, करने बाहुबल से पृथ्वी को जीतनेवाले जिस यशोधर्मा के द्वारा अपने-अपने कर्तव्यों में नियुक्त राजाओं से मुक्त होकर फल फूल रहे हैं, (उसकी जय हो) ॥

यम्योत्केतुभिरन्मदद्विपन्नरव्याविद्धलोध्रदुमै-

रद्घूनेन वनाध्वनि ध्वनिनदद्विन्ध्याद्रिरन्ध्रैर्वलै. ।

वालैयच्छद्विधुमरेण रजसा मन्दाद्भु सलक्ष्यते

पर्पावृत्तशिखण्डिचन्द्रक इव ध्याम रवेमण्डलम् ॥९॥

झंडे पहरानेवाली, वनमार्ग में हस्ति-समूह के झुंडों द्वारा लोभ वृत्तों को उखाड़नेवाली और अपने गर्जन से विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं को प्रतिध्वनित करनेवाली जिसकी सेनाओं के द्वारा विजय में (विजय-यात्रा के प्रसंग में) उठे हुए और गदहे के रंग के समान भूरे घूलि-पटल से मलिन सूर्य-मंडल निम्तेज होकर मोरपक्ष के उलटा चँदवा के समान दोष रहा है (उसकी जय हो) ॥९॥

तस्य प्रभोर्वंशकृत्वा नृपाणा पादाश्रयाद्विश्रुतपुण्यकीर्ति. ।

भृत्यः स्वनेभृत्यजिनारिपट्क आसीद्वसीमान् किल पष्ठित्तः ॥ १० ॥

उस राजा के पूर्वज (पूर्ववर्ती) राजाओं के चरणों में निवास करने के कारण प्रख्यात पुण्य और कीर्ति वाला, अपने विनम्र भावों से काम क्रीषादि पट्ट-रिपुओं को नियन्त्रित रखनेवाला, "पष्ठित्त" नाम का धन-सम्पन्न सेवर था ॥ १० ॥

हिमवन इव गाङ्गस्तुङ्गनम्रः प्रवाहः

शशभृत् इव रेवावारिराशिः प्रथीयान् ।

परमभिगमनीय. शुद्धिमानन्ववायो

यत् उदितगरिम्णस्तायते नैगमानाम् ॥ ११ ॥

द्विध प्रकार हिमालय पर्वत से गंगा का उद्भव और नर्मदा प्रवाह तथा यमुना से रेवा नदी (नर्मदा) का विदाह जल-समूह पैदा उन्नी प्रकार समुद्र महिमावाने इस षष्टिदत्त से नगर के व्यापारियों के अन्वेषक पूज्य और विद्वत् कुल का प्रचार हुआ ॥ ११ ॥

तस्यानुकूलं कुलजातन्त्रात् मुनः प्रभूतो यशसा प्रभूतिः ।

हरेरिवाङ्ग्यं वगिनं वराहं वराहदानं समुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

उन षष्टिदत्त की उच्चकृतोत्पन्न धर्मपत्नी से उसके ही अनुकूल परम सत्पत्नी पुत्र उत्पन्न हुआ । नन्दात् विष्णु के अंग के रूप, विदेगिन्द्र्य और सुयोग्य एवं पुराय रत्न की "वराहदास" इस नाम से पुत्रांग प्राप्त है ॥ १२ ॥

सुदृतिविषयिभूङ्गं मृतमूलं धराया

न्यनिमपगतमङ्गा स्तेनसामारधानम् ।

गुरुरित्तरमिवाद्देन्मत्कुलं स्वाम्नूनूया

रविरिव रविकीर्तिं सुप्रसाद्य व्यधत् ॥ १३ ॥

पुण्य कर्म को करनेवाले, सिद्ध पुराणों के कारण उन्नत, संसार में अपनी जड़ पना चुकनेवाले, नर्मदा-रहित सुदृष्ट स्थिति को धारण करनेवाले पर्वत की लंबी षोटी के समान उस कुल की रविकीर्ति ने सूर्य के समान अपने ऐश्वर्य से आलोकित कर दिया ॥ १३ ॥

विभ्रता शुभ्रमभ्रमि स्नानं वनोचितं मत्तम् ।

न विप्रवादिना येन वरावति कुलीनता ॥ १४ ॥

समुज्ज्वल, दृढ़, स्मृति-प्रतिपादित और सिद्धों के अनुकूल पदवि को अन्वेषण-वाले उस (रविकीर्ति) ने शक्तिमान् श्री अपनी कुलनर्षदा को अन्वेषित करने दिया ॥ १४ ॥

धुनधीशीघ्रिनिध्वान्ताम् हविर्भुजं इनाध्वरान् ।

नानुगुता तव साध्वी तन्यांस्त्रीनजीजनन् ॥ १५ ॥

रविकीर्ति से उसकी शान्ती पत्नी मातृगुण ने अग्नि से यज्ञ के समान, अपनी ज्ञानरसि से अज्ञान के अन्वेषण को दूर कर देनेवाले तीन पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ १५ ॥

भगवद्दोष इत्यासीत् प्रथमः कार्यवत्सन्तु ।

आलम्बनं बान्धवानामन्धकानामिवोद्धव ॥ १६ ॥

(उन लोगों में) "भगवद्दोष" बड़ा पा । वह कार्य पद्धति में अन्धकों के लिये उद्धव के समान अपने बान्धवों का सहान्क पा ॥ १६ ॥

बहुनयविधिवेधा गह्वरेऽप्यर्षमार्गे

विदुर इव विदूर प्रेक्षया प्रेक्षमाणः ।

वचनरचनबन्धे सस्कृतप्राकृते यः

वविभिरुदितराग गीयते गौरमिश्र ॥ १७ ॥

वह नाना प्रकार के न्यायविधान में विषादा के समान था, गमौर अर्षनीति (आदिक एव राजनीतिक विषयों) में नी प्रज्ञा के कारण विदुर के समान दूरदर्शी था । कविज्ञ अत्यधिक अनुरागपूर्वक सस्कृत और प्राकृत वाक्यों के रचना-विधान में उसे कुशल मानते थे ॥ १७ ॥

प्रणिधिदृगनुगन्त्रा सत्य बौद्धेन चाङ्गा

न निशि ननु दवीपो वास्त्यदृष्ट घरिभ्याम् ।

पदमुदयि दधानोऽनन्तर तस्य चाभूत्

स भयमभयदत्तो नाम चिन्वन् प्रजानाम् ॥ १८ ॥

उभय पद को धारण करनेवाला तथा प्रजाओं के भय का भयन करते हुए उन्हें भय देनेवाला 'भयमदत्त' नाम का दूसरा लड़का था । जिस भयमदत्त को, गुनवरस्फी नेत्र का अनुगमन करनेवाली, शन-दृष्टि से पृथ्वी पर कोई सुन्दर या दूरदर्शी वस्तु रात में भी छिपी नहीं रह सकती थी ॥ १८ ॥

विन्ध्यन्यावन्ध्यकर्मा शिखरतटपतन्याण्डुरेवाम्बुराशे-

गौलाङ्गूलैः सहेलं प्लुतिनमिनतरोः पारियात्रस्य चाद्रेः ।

आमिन्धोरन्तराल निजभुच्चिसचिवाभ्यामिनानेकदेशात्

राजस्थानीयवृत्त्या सुरगुरुविव यो वर्णिता भूतयेऽपात् ॥ १९ ॥

सभ्य कार्य करनेवाला वह, चोटियों से गिरते हुए नर्मदा के सछेद बल-समूह से युक्त विन्ध्यपर्वत और सगूरों के शीशामुख उछल-झर से झुके हुए पेट-वाले "पारियात्र" पर्वत से लेकर "विन्ध्य" तक के मध्यवर्ती और अपने सन्धे मन्त्रियों से अर्पित विभिन्न प्राणों का, राजा के प्रतिनिधि के रूप में, बृहस्पति के समान, चारों दिनों के बल्यान के लिये पाठनोपम किया ॥ १९ ॥

विहितसकलवर्णसिद्धुरं शान्तडोम्बं
कृत इव कृतमेतद्येन राज्यं निराधि ।

स घुरमयमिदानी दोषकुम्भम्य सूनु-
गुरुं वहति तदूटा धर्मतो धर्मदोषः ॥ २० ॥

जिस धर्मदोष ने अपने राज्य में जातिगत माकार्य को दूर कर और विद्रोह को शान्त कर सत्ययुग की भाँति प्रजाजन की मानसिक व्यथा को दूर कर दिया है, "अमयदत्त" के अनुज "दोषकुम्भ" के सुपुत्र वह धर्मदोष, अमयदत्त के द्वारा टोपे गये राज्य-कार्य के गुस्तर जाए को धर्म-गुस्तर वहन कर रहा है ॥ २० ॥

स्वसुखमनतिवाञ्छन्दुर्गमेऽध्वन्यसङ्गा
धुरमतिगुस्तराय यो दधद् भतुरर्ये ।
वहति नृपतिवेषं केवल लक्ष्ममायम्
वलिनमिव विलम्ब कम्बल बाहुलेयः ॥ २१ ॥

अपने सुख को उपेक्षा करके, बिना किसी की सहायता लिए, अपने स्वामी मशोषर्मा के हितार्थ, गुस्तर राज्य-भार को दुरुह मार्ग में भी वहन करता हुआ वह धर्मदोष "राजा" के वेष को नाममात्र से उसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार मारी और लटकते हुए गल-कम्बल को बँल ॥ २१ ॥

उपहितहितरक्षामण्डनो जातिरत्नै-
भुञ्ज इव पृथुलासस्तस्य दक्षः कनीयान् ।

महदिदमुदपान खानयामास विभ्र-
च्छुनिहृदयनितान्तानन्दि निर्दोष नाम ॥ २२ ॥

विस्तृत वक्ष स्वलवाले, और बहुमूल्य रत्नों से भूजाओं के सहच; सींचे गये उत्तरदायित्व के संरक्षणरूप नृपनवाले, उसने (धर्मदोष के) कनिष्ठ भ्राता "दक्ष" ने कान और अन्तःकरण को अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले "निर्दोष" नाम के इस महाद् कुर्से को सुदवाया ॥ २२ ॥

मुखाश्रेयच्छायं परिणतिहितस्वादुफलदं
गजेन्द्रेणाग्नं द्रुम इव धृनान्तेन बलिना ।
पितृव्यं प्रोद्दिश्य त्रियमभयदत्त पृथुधिया,
प्रपीयन्नेनेदं कुशलमिह कम्मोन्नरचितम् ॥ २३ ॥

सुषुप्तके सेवन करने योग्य छायावाले और परिपक्वता के कारण लाभदायक एवं स्वादुपूर्ण फलों को प्रदान करनेवाले वृक्ष को तोड़ गिरानेवाले गजराज के श्रमान, कराल जाल से बवलित, अपने श्रद्धेय चाचा "अभयदत्त" की पुण्यस्मृति में बुद्धिमान् "दत्त" ने कृष्ण के इस विस्तृत और कलापूर्ण "अरत" (चतुवरे) को बनवाया ॥ २३ ॥

पञ्चमु शतेषु शरदा यातेष्वेकाश्रवतिसहितेषु ।

मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ॥ २४ ॥

सनय परिज्ञान के लिए मालव सवन् की गणना के अनुसार ५८९ वर्ष श्यतीत होने के अनन्तर..... (यह कूर्आ बनवाया—२६ वें श्लोक से सम्बन्ध) ॥ २४ ॥

यस्मिन् काले कलमृदुगिरा कोकिलाना प्रलापा

भिन्दन्तीव स्मरशरनिभा प्रोपिनाना मनासि ।

मृङ्गालीना ध्वनिरनुवन भारमन्द्रश्च यस्मि-

ध्राधूनज्य धनुरिव नदच्छ्रूयने पुष्पकेतो ॥ २५ ॥

जिस ऋतु में मन्मथ के तीरों के सहस्र बमनीय और बोल-कण्ठी कोपल को कूक बिरही जनो के अन्तस्तल में एक टुक सी पैदा कर देती है और मोरो का मदमस्त गुजन मदन के ईष्यम्मित श्रृंगारवाले धनुष की भाँति हर-एक वन में मुखरित होते हुए धुनिगोचर होते हैं (उस ऋतु में यह कूर्आ बनाया गया— श्लोक २६ से सम्बन्ध) ॥ २५ ॥

प्रियममकुपिनाना रामयन्वद्धराग

किमलयमिव मुग्ध मानसं मानिनीनाम् ।

उपनयनि नमन्वान् मानभङ्गाय यस्मिन्

कुमुमममयमासे तत्र निर्मापिनोज्यम् ॥ २६ ॥

कुमुद-समृद्धि के जिस वसन्त में अपने प्रियजन से कूठी हुई मानिनी अङ्गनाश्री के अनुरक्त और मोहिन मानस को, नूतन-वन्दन की भाँति, मुग्धुदाता हुआ मत्मानिल, मान-भङ्ग के लिये उद्वेलित करता है, उस वसन्त में इस कूप का निर्माण कराया गया ॥ २६ ॥

यावत्तुङ्गैरदन्वान् किरणसमुदयं सङ्गकान्तं तरङ्गै-

रालङ्गनिन्दुबिम्ब गुरीर्नारिव नुजैः संविधते सुहृताम् १

विभ्रतमोधान्तलेखावलयपरिगति मुण्डमालामित्राय

सत्सूपस्तावदास्तामभृतसमरसस्वच्छनिप्यन्दिताम्बु ॥२७॥

जब तक लम्बी मुजलताओं-सी ऊँची लहरों से, प्रस्तुतित किरणों से समन्वित, और साहचर्य के कारण मनोरम लगनेवाले चन्द्र-बिम्ब का आलिङ्गन करता हुआ सागर अपनी मित्रता को प्रकट करता रहेगा, सब तक मुधासदृश, सुस्वादु, निर्मल, प्रवाहपूर्ण जल से युक्त, "जगत्" के तट पर निर्मित विविध वृत्ताकार परिधि को मुण्डमाला के समान धारण करनेवाला, यह रूप अक्षुण्ण बना रहे ॥ २७ ॥

धीमान् दक्षो दक्षिण मयमन्धो ह्रीमाँच्छूरो वृद्धसेवी वृत्तः ।

बद्धोत्साह स्वामिनायैप्सुक्षेत्री निर्दोषोऽप्य पातु धर्मं चिराय ॥ २८ ॥

विद्वान्, उदार, मत्प्रती, लज्जाशील, धीर, गुरुजनो के सेवक, वृत्त, उत्साह-सम्पन्न, स्वामी के कार्यों में आलस्यहीन और दोषरहित यह "दक्ष" दीर्घकाल पर्यन्त धर्म-रक्षा में तत्पर रहे ॥ २८ ॥

उत्कीर्णा गोविन्देन

इस प्रशस्ति को गोविन्द ने लिपि बद्ध किया ।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय—इस अभिलेख को मालवा के शासक यशोधर्मन् के द्वारा राजस्थान के प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त "धर्मदोष" के भाई 'दक्ष' ने दशपुर में एक रूप बना कर उत्कीर्ण कराया । इस अभिलेख की खुदाई गोविन्द नामक किसी व्यक्ति ने की थी । इस अभिलेख से निम्नलिखित ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश पड़ता है ।

(१) मालव देश का जननायक शासक यशोधर्मन् था, जिन्होंने हूणों को पराजित किया था ।

(२) उसने राजस्थान में प्रान्तीय शासक के रूप में अमयदत्त को नियुक्त किया था ।

(३) यशोधर्मन् के बच का नाम औलिकर था ।

(४) विष्णुधर्मन् उसका उपनाम था ।

(५) यशोधर के प्रान्तों के राजाओं के समक्ष के पूर्व तथा परपुरुषों का संकेत मिलता है ।

(६) इस अभिलेख का लिपिक गोविन्द था ।

इस प्रसंग में यशोधर और उसके सम्बन्धित हूण-पराजय की चर्चा अवश्य है । ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह सर्वविदित है कि गुप्तकालीन भारत पर विदेशी हूणों और टर्कों का आक्रमण होता रहता था । साथ ही गुप्तों की साम्राज्यवादी शक्ति को सबसे अधिक बाधा पहुँचानेवाली घटनाओं में हूणों का आक्रमण भी प्रधान कारण था ।

हूण एक सूँघार, शाना-बदोश जाति के थे, जो मूलतः चीन के पड़ोसी माने जाते थे । वे अपने मूल जाति-स्थान से निकल कर सारे पारस और अजगन्धिनान को रौंदते हुए गुप्त-साम्राज्य के समस्त कुमारगुप्त के समय में पश्चिमी भाग पर आक्रमण किये थे । किन्तु स्कन्दगुप्त की सामरिक कुशलता के आगे इनकी एक भी नहीं बनी और वे वापस लौट गये । किन्तु वे चुप नहीं बैठ गये, बल्कि कुछ दिनों के बाद पुनः ५वीं सदी ई० के अन्त में ' तोरमान ' के नेतृत्व में आ धमके । इस आक्रमण ने गुप्त-साम्राज्य का पीठ ही तोड़ डाली । तोरमान की चर्चा कल्हण-कृत राजतरंगिणी में और अन्धान्य अभिलेखों में भी पाई जाती है । इन प्रसंगों के आधार पर पता लगता है कि तोरमान ने गुप्त-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रान्तों का छीन लिया और अन्त में पञ्चमाला तक अपनी मता स्थापित कर ली । उत्तराखण्ड में किये जानेवाले हूणों के आक्रमण के सम्बन्ध में ' हरिवंश ' में भी संकेत मिलता है । तोरमान के एरण्य अभिलेख से यह ज्ञान होता है कि मातृविष्णु का छोटा भाई धन्यविष्णु हूण-पराजय का एक सामन्त था । तोरमान के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल हूणों का राजा हुआ । अनुश्रुतिर्पा के अनुसार वह हृदयहीन, क्रूर, अन्तर्दयी शायक था । गृहस्था ही उसको मनोरञ्जन की साधन थी । चीना यात्री युवानन्साङ्ग के अनुसार उसने बीड़ों पर अत्याचार करके उनके विहारों को ध्वस्त कर दिया और मगध के स्वामी बालादित्य पर आक्रमण कर दिया । किन्तु उसे मुँह ही सानी पड़ी । अन्ततोगत्वा कस्मिन् में एरण्य सेर बहाँ के राजा के साथ शठयन्त्र करके वहाँ का राजा बन बैठा । परन्तु अरब पादकों के फसलस्वप्न वह एक वर्ष के भीतर ही मर गया । यह बालादित्य " नरसिंहगुप्त बालादित्य " न होकर बालादित्य नामधारी कोई दूसरा ही माध का शासक था । इसी मिहिरकुल को पराजित करनेवाला

यशोधर्मन् था, जिसका मरेन इस अमिलेख में मिलता है। यद्यपि इस अमिलेख में तो मिहिरकुल का वर्णन नहीं है। किन्तु दक्षपुर में यशोधर्मन का भी एक विजय स्तम्भ है, जिसमें मिहिरकुल को पराजित करने की खर्चा आयी है :—

स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपगता प्रापिन नोत्तमङ्गं
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणाचित पादयुग्मम् ।”

उसकी प्रशस्ति में यह कहा गया है कि यशोधर्मन् ने अपने राज्य की सीमाओं को लाँघकर उन देशों की विजय की, जिन्हें शुसप्तमाट तक भी नहीं जीत सकते थे, और उसने ऐसे देशों पर भी आक्रमण किया जिसमें हूण तक भी नहीं प्रविष्ट हो सके थे। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत तक तथा हिमालय से पश्चिमी सागर तक के सारे राजे उनकी धम्यर्चना करते थे। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल भी उसके चरणों को नजमस्तक हो छूते थे। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर यह प्रतीत होना है कि मिहिरकुल दो बार पराजित हुआ था। एक बार तो मगध में बालादित्य के द्वारा और दूसरी बार मध्यभारत में यशोधर्मन् के द्वारा। यशोधर्मन् के बारे में इन बातों का सबेन हमें उसके विजय-स्तम्भ से मिलता है। प्रस्तुत अमिलेख में मिहिरकुल और यशोधर्मन् के युद्ध का संकेत नहीं मिलता है। इसमें केवल “प्राची नृपान् सुबृहतश्च बहूनुदीच ।” इस श्लोक से यह पता लगता है कि यशोधर्मन् ने पूरव के ५० बटे-बटे और उत्तर के बट्ट से राजाओं को सन्धि और विग्रह से बच में करके लोक में प्रिय और दुर्लभ “राजाधिराज परम स्वामी” का दूसरा उपनाम प्राप्त किया था। उसके मुजबल से अजित पृथिवी पर अनेक देश सुख से अपना समय बिताते थे।

यशोधर्मन् जिस प्रकार अपनी शक्ति-सम्पन्नता को प्राप्त कर राजनीतिक क्षेत्र में सहसा इतना सफल हो सका, इसके बारे में इतिहास मौन है। उसकी उत्पत्ति, वंश आदि के बारे में कुछ भी निश्चित बातें मालूम नहीं होतीं। केवल इस अमिलेख में उसके कुल का इतना संकेत मिलता है कि उसके कुल का नाम “ओलिकर” था। किन्तु उस वंश का वर्णन नहीं मिलता है। अमिलेख के पश्चिम श्लोक में उसे “जनेन्द्र” (जननायक) कहा गया है। इस शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि इसकी उत्पत्ति किसी राजवंश में नहीं हुई थी, फिर भी हूणों के विनाश करने में इसने अपनी मुजाओं के पराक्रम को दिखाया था। अतः उसी पराक्रम के प्रभाव से राज्यपद को प्राप्त कर जनता का प्रिय

शासक बन गया था। उनको विजय-प्रगति और इस कूप-श्लेष के आधार पर यह भाव होता है कि वह मालव का राजा था और उसकी राजधानी मन्दसौर (पश्चिमी मालवा) थी। इन प्रकार हम देखते हैं कि जिस काल का यह राजनीतिक दिग्दर्शन किया जा रहा है, उसमें यशोधर्म का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु आश्चर्य है कि इसके बच और व्यक्तित्व के विषय में इतिहासकार पर्याप्त सामग्री के अभाव में अब तक अपनी लक्ष्मी को सार्थक नहीं कर पाये हैं।

इस अभिलेख से यशोधर्म के द्वारा प्रान्तीय शासक के रूप में निपुक्त "अभयदत्त" और "दक्ष" के कुल का परिचय मिलता है। इस अभिलेख के द्वारा "दक्ष" के पश्चिदत्त नामक पूर्व पुत्र का भी संकेत मिलता है, जो यशोधर्म के बगल द्वारा निपुक्त राज-सेवक था। उस पश्चिदत्त की कुलीन भार्या से उसी के समान उन्नत, गौरवशाली इसका सुपुत्र "वराहदास" नाम से प्रसिद्ध हुआ। और वराहदास का तेजस्वी पुत्र 'रविकीर्ति' हुआ, जिसने अपने कुल के गौरव को बढ़ाया। उस रविकीर्ति की सच्ची भार्या भानुगुप्ता के गर्भ से तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, जिनका नाम—भगवद्दोय, अभयदत्त और दोयकुम्भ था। यही अभयदत्त यशोधर्म द्वारा पश्चिम देश में राजस्थान का प्रान्तीय शासक निपुक्त हुआ था। उसके बाद उसके छोटे भाई दोयकुम्भ का पुत्र धर्मदोय ने अभयदत्त के कार्यभार को ग्रहण किया और उसी धर्मदोय के छोटे भाई "दक्ष" ने दणपुर में एक कूप का निर्माण करवाया। उसी कूप में यह अभिलेख राजा की आज्ञा से गोविन्द ने उत्कीर्ण किया। वहीं पर यह अभिलेख लिपिबद्ध है। कूप पर उत्कीर्ण होने के कारण ही इसे 'कूप-श्लेष' कहते हैं।

अभिलेख का साहित्यिक वैशिष्ट्य

साहित्यिक विवेचना की दृष्टि से इस अभिलेख में हमें अनेक चमत्कार देखने को मिलते हैं। विशेषकर ये चमत्कार छन्द-योजना और अलंकार-प्रयोग में दीख पड़ते हैं। जहाँ तक इस अभिलेख के विषय का विवेचन है, उसका स्मृतीकरण इसके ऐतिहासिक महत्व के प्रसंग में लगभग हो चुका है। हाँ! साहित्यिक दृष्टि से हम इसकी विषयगत वैशिष्ट्य का भी यदि इस प्रकार विवेचन करें तो वह अनासक्तिक न होकर पाठकों के लिये शक्ति ही सिद्ध होगा। संस्कृत-साहित्य की "आदौ मगलं विषेयम्" इस परंपरा के अनुसार कवि ने इस प्रगति का प्रारम्भ मन्वाद् संकर की सुन्दर बन्दना से किया है।

उसके बाद कवि अभिलेख के विषय की ओर अपना कदम उठाकर कूप वीर तन्कालीन अनायास यशोधर्मा की प्रशंसापरक स्तुति करता है। तदनन्तर इस वरु के राज्य करनेवाले राजाओं की छत्रछाया में शासन करने वाले षष्टिदत्त और उसके वरुजों का चरित्रचित्रण समास-पद्धति से किया गया है। इसी प्रसंग में षष्टिदत्त के वरुज शासक 'दक्ष' के द्वारा अपने चाचा 'अभयदत्त' की स्मृति में कूप निर्माण-कार्य का संकेत भी किया गया है। इस कूप का निर्माण-कार्य मालव सन् ५८९ में वसन्त ऋतु में सम्पन्न हुआ था, जिसका उल्लेख प्रशस्ति के अन्तिम भाग में किया गया है। अन्त में कवि कूप और उसके निर्माण दक्ष के दीर्घजीवी होने की कामना के साथ अपनी इस प्रशस्ति को समाप्त कर देता है।

इस छोटे से अभिलेख में कवि ने बहुत अधिक छन्दों का प्रयोग कर अपनी विविध-छन्द-प्रियता और उसमें सकलतापूर्वक काव्य निर्माण-बीजल का एक साथ परिचय दिया है। इस लघु-काव्य-कलेवर में ही कवि ने लगभग १२ छन्दों की योजना की है। अब हम पूरी प्रशस्ति में आये छन्दों की एक मोटी सूची के माध्यम से यह देखेंगे कि कवि ने किस प्रकार सब प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों के प्रयोग में अपनी काव्यकला का परिचय दिया है। कवि ने अन्य छन्दों की अपेक्षा मालिनी का सर्वाधिक उपयोग किया है देखिये—इस छन्द का प्रयोग श्लोक सख्या—३, ५, ११, १३, १७, १८, २०, २१, २२, २६ में किया गया है। इस तरह पूरी प्रशस्ति के एक तिहाई अंश में इसका प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार श्लोक सख्या १ में पुष्पिताया, श्लोक सख्या ४ में उपजाति, श्लोक सख्या १० में इन्द्रवज्रा, श्लोक सख्या २५ में मन्दात्रान्ता, श्लोक सख्या ९ में चार्दूलविहीरित, श्लोक सख्या २८ में शालिनी जैसे छन्दों का भी प्रयोग एकाकी रूप में किया गया है। इसी तरह श्लोक सख्या ६, ७ में वसन्तविलका और सख्या २, २३ में शिसरिणा का प्रयोग मिलता है। श्लोक सख्या ८, १९ और २७ में हम साधरा जैसे लम्बे छन्द का भी दर्शन करते हैं। श्लोक सख्या २४ में हमे आर्या और श्लोक सख्या १४ और १५ में अनुष्टुप् की शलक भी मिल जाती है। छन्द प्रयोग के उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि आर्या और अनुष्टुप् जैसे लघु-छन्दों के प्रयोग के साथ ही मालिनी, वसन्तविलका और पुष्पिताया जैसे कौमल प्रवाहपूर्ण छन्दों में अपना

मन रमता हुआ शार्ङ्गविहीनविव, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और क्षणरा जैसे लम्बे छन्दों का उपयोग भी बनाया ही कर बैठता है। इस प्रकार हम कवि को इन छन्द-बौद्धी की उपमा हिरण-बौद्धी से दे सकते हैं जो क्षण-प्रतिक्षण अपने में नवीनता लाकर भावुकों के मन को हजार मोह लेती है।

यहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है उसमें कवि ने शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा व्योमहारों में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। सम्पूर्ण अविनेत में उपमाअलंकार छाँसा गया है। अन्य सभी अलंकार इन अलंकार-सम्राट् की ही अर्चना-वन्दना में व्यस्त-मे नवर जाने हैं। उपमा के अतिरिक्त अन्य किसी भी अलंकार का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं के बराबर है। मंगल-श्लोक में ही कवि ने उपमा की अनुपम छटा दिखायी है। स्थान-स्थान पर उपमा में रूपक और उल्लेख के पुट से इस अलंकार का विलास और भी निखर उठता है। समिलेख में अलंकार-भोजना के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि कवि ने उपमाअलंकार का प्रयोग १, ११, १३, १९, २१ और २३ सव्यक श्लोकों में किया है और रूपक मिथित उपमा का प्रयोग ५ और १५ सव्यक श्लोक में किया है। अनुप्रास और मनक मिथित उपमा का प्रयोग श्लोक सं० १७, २० और २२ में मिलता है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि ने वस्तु-मिथित उपमा का सुन्दर प्रयोग किया है। देखिये—२५ वें श्लोक में—‘स्मरयत निभाः कोकिलानां प्रलापा. प्रोषिताना मनासि भिन्दन्ति इव’ इस उक्ति के द्वारा और ‘मृज्जानोनां ध्वनिः पुष्पकेतो. आश्रुतम्य धनुर्विव’ के द्वारा उपमा की मनोरम छटा दीख पड़ती है। यहाँ पर कोकिल-प्रलाप की उपमा कामदेव के बामों से दी गयी है और वह कोकिल प्रलाप परदेष्टियों के मन को मानो छेद रहा है। इसी प्रकार भौरों की मधुर संवार कामदेव के धनुष की टकार की भाँति समस्त वन प्रदेश में गूँज रही है। इसी प्रकार प्रिय पाञ्च-गम पूर्वोक्त श्लोकों में उपरि-निर्दिष्ट अलंकारों का दर्शन-विवेचन स्वयं कर सकते हैं। स्वल्प शब्दों में ही वसन्त जैसे कमनीय और मादक ऋतु का वर्णन कवि के वर्णन-सौन्दर्य का अनुपम निदर्शन है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि अत्यन्त सावधानी से काव्यकला का प्रयोग करता नवर आता है क्योंकि दो ही श्लोक में उसने वसन्त के समस्त वैभव को नाप कर गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। वर्णन सौष्टव के साथ ही कवि की पर दम्भा भी उन्नत कोटि की है। रम और भाव के अनुद्भूत शब्द-ध्वनि का कवि की भावुकता को प्रकट करता है। नाया और उमंगिता, विदेयता नी

इसलिये मुन्दर है कि काव्य में आद्योपान्त प्रवाह बना है । किन्तु इस प्रवाह में केवल एक ही घटकनेवाली बात है और वह है छन्द-वैविध्य । मेरे विचार से यदि एक या दो छन्दों का ही आश्रय लिया जाता तो काव्य प्रवाह की विच्छिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता । दोष दृष्टि से केवल यह कहा जा सकता है कि कवि स्वयंविशेष पर पुनर्दत्त दोष से अपने को नहीं बचा पाया है क्योंकि प्रायः एकार्यक शब्दों का प्रयोग केवल पाद पूर्ति के लिए कर दिया गया है । रीति की दृष्टि से प्रचलित काव्य का प्रतिनिधित्व वेदभी रीति ही करती है । भाषा की दृष्टि से यद्यपि परिचित, सुबोध और असमस्त शब्दों का ही प्रयोग बहुतायत से किया गया है फिर भी कहीं-कहीं लम्बे समास और दुरूह कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है । समस्त पदों का प्रयोग श्लो० स० ९ और २६ में मिलता है । पूर्वोक्त आलोचना से हमें यह प्रतीत होता है कि जहाँ पर कवि एक ओर अपने भावपक्ष को प्रकट करता है वहीं पर दूसरी ओर अपने कलापक्ष को प्रकट करने के लोभ का सवरण नहीं कर पाता है । फिर भी यह प्रशस्ति किसी प्रारम्भिक कवि की नहीं वरन् किसी सहृदय काव्यकला-मर्मज्ञ की ही है ।

टिप्पणी

जनेन्द्र—इसका अर्थ जन-नेता होता है । इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि यशोधर्मन् की उत्पत्ति किसी राजकुल में तो नहीं हुई थी किन्तु हूणों के विनाशक होने के कारण और अपन पराक्रम और राजकीय गुणों के कारण वह राज्यसिंहासन प्राप्त करके जनता का प्रिय पात्र हो गया था ।

प्रमदवनम्—जहाँ पर राजा अपनी रानियों के साथ विहार करता है उस उद्यान को प्रमदवन कहते हैं ।

औलिकर—इस शब्द का अर्थ यद्यपि स्पष्ट नहीं है फिर भी यशोधर्मा के वंश का "औलिकर" यह प्राकृत नाम समझा जाता है पलीट महोदय के अनुसार "औलि" का अर्थ 'उष्ण' अथवा 'शीत' और 'कर' का अर्थ 'किरण' है । उनका संकेत संभवतः सूर्य अथवा चन्द्र देव की ओर है ।

भानुगुप्ता :—पलीट महोदय के अनुसार "भानुगुप्ता" संभवतः गुप्त सम्राट् 'भानुगुप्त' की बहन थी । इससे यह संकेत मिलता है कि उन दिनों में ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से भी विवाह करते थे ।

राजन्यानीयवृत्त्या—'राजन्यानीय' शब्द का अर्थ "क्षेत्रेन्द्र" के "लोक-
नाथ" में प्रजापालनाय "उद्भृति रक्षयि च स राजस्थानीय" अर्थात् जो
प्रजा का रक्षक और आश्रयदाता है, उसे राजस्थानीय अर्थात् वायसराय
Vasroy कहते हैं। किन्तु कभी-कभी अभिलेखों में यह शब्द राज्य के सामान्य
अधिकारी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

इससे यह प्रतीत होता है कि 'अभयदत्त' 'यशोधर्म' के साम्राज्यान्तर्गत
एगिप्ती प्रान्तों का वायसराय था और दण्डुर उसका राजधानी थी।

निर्दोष नाम—कुछ लोग 'निर्दोष' शब्द को 'उदयान' का विदोषन बताते
हैं तो कुछ लोग इसे व्यक्तिवाचक समझते हैं। हमारे विचार से प्रथम मत सपादेय है।



(५) विप्रहराजस्य (वीसलदेवोपनामकस्य)

देहली-स्तम्भलेखः (वि० सं० १२२०)

ओं ॥ संवत् १२२० वैशाख शुक्ल ॥ १५ ॥

शाकम्भरोन्मत्तिश्रीमदावेन्ददेवान्जश्रीमदोन्मत्तदेवस्य ॥

॥ ओं बभ्रुो नाम रिपुप्रियानजनयो प्रवर्धयन्मन्त्रे
प्रव्यसामि वृणानि, वैभवनिललाष्टं याम्नादिभ्यम् ।

मार्गो लोकविरुद्ध एव विजय इत्ये नतो विद्विषाम्

श्रीमद्विप्रहराजदेव । नवत प्राप्ते प्रजागोप्तदे ॥ १ ॥

ओम् ॥ संवत् १२२० वैशाख शुक्ल ॥ १५ ॥

शाकम्भरी (शम्भर) के राजा श्रीमान्दावेन्ददेव के पुत्र श्रीमान् वीसलदेव
का (लेख) ।

हे श्रीमान् विप्रहराजदेव ! जब काज अपनी दिव्यपत्नी करने हैं तो रिपु-
लक्ष्मणों की बाँधों में बाँध और समुद्र के शीतले तले दृष्ट दिखाने रहे हैं । और
वेनव के कारण जानकी कीर्ति समस्त दिशाओं में फैल गयी है । जानकी दिव्य-
पात्रा में केवल अनाचार का मार्ग ही नहीं बनितु समुद्रों का मन भी मृत्यु ही
जाता है [अनाचार-मय के रिपु होने और समुद्र मन के मृत्यु होने का कारण यह
है कि विप्रव पात्रा के प्रसङ्ग में बनती सेवा, मद्य और पराक्रम के माध्यम में
समस्त प्रसङ्ग-मयों में व्याप्त होकर भी वह केवल अनाचार के मार्ग में प्रवृत्त नहीं
होता, वह सदा सिद्धाचार का पालन करता है । जयदा उसके प्रसाद में कोई
भी व्यक्त अनाचार मार्ग पर पैर नहीं रखता, जिससे वह पद स्वयंदा बन-
सुन ही जाता है । उसको दिव्यपात्रा बनने पर समुद्र अर्पित हो जाता है ।] ॥ १ ॥

लीलामन्दिर सोदरेषु नवतु म्दान्तेषु वामजुवाम्

शङ्कनां तु न विप्रहृष्टितिरते न्याय्योऽत्र वामन्तव ।

शङ्का वा पुरपोतनस्य नवतो नाम्नेव वायु निपे-

निनम्पापहृतयिषः किन्तु नवान् श्रोते न निद्रापितः ॥ २ ॥

हे लोचानिरेतन विजयराज ! रमणियों के सजातीय मानस-मन्दिर में आपका निवास है किन्तु आपके शत्रुता का नहीं। हे राजन् ! रमणियों के सजातीय समुद्र में आपका विनाश उचिit हा है। इसमें एका का अवसर नहीं। क्योंकि राजा आने विष्णु भगवान् के समान समुद्र-मन्थन से उत्पन्न लसभों की गोद में निपटन नहीं किया है ?

(भाव यह है कि राजा ने विष्णु भगवान् के समान ही शत्रुकी समुद्र को मथकर विजय लक्ष्मी को प्राप्त किया है ।) ॥ २ ॥

॥ ओ ॥

आविन्व्यादाहिमाद्रैरिचितविजयन्तीर्ययात्राप्रसङ्गा-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः ।
आर्पावर्ते यदार्य पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनामि-
दं शकम्भरीन्द्रो जगति विजयने वीरलक्ष्मणपान् ॥ ३ ॥

शोक ॥। जने तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में ही विन्ध्याचल से लेकर हिमालय पर्वत तक के प्रदेश को जीत लिया है, और उन प्रदेशों में सिर उठानेवाले राजाओं को नतमस्तक कर दिया है तथा आनन-मस्तक राजाओं पर अपनी प्रसन्नता को प्रकट किया है, जिसने म्लेच्छों का समूल नाश करके आर्पावर्त देस को पुन 'आर्यों का देस' इस नाम से सार्यक बनाया है वह साम्हर का स्वामी राजा श्रीमन्देव विजयी हो ॥ ३ ॥

यूने मप्रति चाहमानतिलक. शाकम्भरीभूपतिः
श्रीमद्विजयराज एष विजयी मन्तानजानात्मन. ।
अस्माभि करद वषधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शौरस्वीकरणाय माञ्जु भवतामुद्योगान्य मन. ॥ ४ ॥

शौहान कुतभूयन साम्हर के विजयी राजा विजयराज अब अपने कुलपुत्रों में कहने हैं कि हमने हिमालय से लेकर विन्ध्याचल के मध्यवर्ती प्रदेशों को कर देने के लिये आष्य कर दिया है (अपने अधीन कर लिया है)। अब अवशिष्ट पञ्जाब आदि प्रान्तों को अपने अधिकार में करने में तुम लोगों का मन उद्योग-गुन्य नहीं हो ॥ ४ ॥

सवन् श्रीविक्रमादिन्ये १२२० वैशाख शुनि १५ गुरौ ॥

लिखितमिद राजाऽऽदेशात् ज्योतिषिकश्रीतिलकराजप्रत्यक्ष गौडान्वय-
कायस्थमाहवपुत्र श्रीपतिना । अत्र समये महामन्त्री राजपुत्रश्रीसल्ल-
क्षणपालः ॥

विव्रम सन् १२२० वैशाख शुक्ल की पूर्णिमा त्रिप एव गुस्वार ।

राजा विग्रहराज के आदेश से "श्री तिलकराज" नाम के ज्योतिषी जी के
समक्ष "गौड" वध में उत्पन्न कायस्थ माह्व के पुत्र ने इस लेख की लिपि की ।
इन दोनों में राजकुमार "श्री सल्लक्षणपाल" महामन्त्री थे ॥

स्वम्भलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय —दिल्ली के चौहानवशी राजा विग्रहराज (बांसलदेव) ने
हिमालय की उपत्यका में विद्यमान मौर्यसम्राट् अशोक के एक स्तम्भ पर इन
अभिलेख को उत्कीर्ण कराया था । उस स्तम्भ की बाद में विग्रम की १५ वीं
शताब्दी में दिल्ली के तत्कालीन मदन शासक क्रिरोत्रसाह ने वहाँ से मँगवा लिया,
जो आज भी "क्रिरोत्रसाह का कोटला" इस नाम से प्रसिद्ध स्थान में विद्यमान
है । उनी स्तम्भ पर यह अभिलेख अशोक के क्षमोपदेश के नीचे उत्कीर्ण है ।
इस अभिलेख के चार श्लोकों में विग्रहराज की वीरता, उसकी अशोक्यति और
राज्यसीमा का वर्णन किया गया है । इस छोटे से अभिलेख की छाया में हम
भारतवर्ष के एक महत्त्वपूर्ण शासक जाति के इतिहास की झलक पान का प्रयास
कर सकते हैं और वह ज्ञाति है जन्तिस हिल्ससम्राट् हर्षवर्धन के बाद उत्तर
भारत में राज्य करनेवाला राजपूत वंश । अभिलेख के चौहानवशी राजा का
सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंश से स्थापित किया जाता है । अब हम पहले से
अभिलेख के नायक राजा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में राजपूत वंश का
सिंहावलोकन इस प्रकार कर सकते हैं :—

राजपूत—सम्राट् हर्षवर्धन की जीवन-लीला जब भारतवर्ष के राजप्रहासन
रूपी रंगमंच की सूनी कर गई तो उसके योग्य अधिपति के अभाव में
यहाँ की राजनीतिक एकता विच्छिन्न-ही हो गयी । सगल्लि साम्राज्य टुकड़ों में
बँटने लगा और कुछ मनचले सामन्त अपना घिर उठावर पास-पड़ोस के राज्यों
की ओर अपनी लोहपुं दृष्टि से टाक डाल करने लगे । इसी विशृङ्खल राजनीतिक
परिस्थिति में नये राजवर्गों की स्थापना हुई, जो सामूहिक रूप में राजपूत
कहलाये । इसीलिये यह युग भारतीय इतिहास में 'राजपूत-युग' के नाम से

प्रसिद्ध है। इस युग का इस देश के इतिहास में न केवल राजनीतिक दृष्टि से अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी अपना विशेष महत्त्व है। एकछत्र साम्राज्य के अभाव में देश को राजनीतिक एकता के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी मुसलमानों के आक्रमणों में भारतीय स्वतंत्रता, संस्कृति तथा धर्म की रक्षा राजपूतों ने अदम्य साहस से की थी।

राजपूत वंश ये — राजपूत शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से सर्व-प्रथम हर्ष की मृत्यु के बाद के काल में प्रारम्भ हुआ। यद्यपि राजपुत्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है और उसी का रूपान्तर शब्द 'राजपूत' है किन्तु इस शब्द के पहले प्रयोग नहीं होने के कारण कुछ ऐतिहासिकों ने इस जाति को एक विदेशी जाति मान लिया और इसके विकास का समय सातवीं सदी का उत्तरार्ध माना। उनके अनुसार राजपूत जाति, मध्य-एशिया से आये हुए एक सीपियन आदि मिश्र भिन्न जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई। इस मन के प्रवर्तक हैं राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल "टाड" महोदय। उन्होंने पृथिवीराज रासो के अग्निकुलवाले वर्णन से प्रभावित होकर भारत के राजपूतों में और मध्य-एशिया की एक तथा सीपियन जातियों में पर्याप्त सादृश्य की कल्पना कर यह सिद्ध किया कि गुप्तकाल के प्रारम्भ और उत्तर काल में भारत में आनेवाले एक, पल्लव, हूण, सीपियन आदि जातियाँ यहाँ आकर बस गयीं और यहाँ के हिन्दुओं के आचार-विचार और धर्म में घुलमिल गयीं। फलस्वरूप, हिन्दूधर्म में दीक्षित इन विदेशियों की एक नयी जाति बन गयी, जिसमें मध्य-एशिया में निवास करनेवाली पश्चिमी जातियों के युद्धप्रियता आदि गुणों के साथ हिन्दू धर्म और सामाजिक मान्यताओं के प्रति उनकी निष्ठा तथा स्वाभिमान की बातें सम्मिलित हो गयीं। इन नये कुलों के प्रधान नायक अपनी उत्पत्ति प्राचीन हिन्दू देवताओं—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि से बनवाने लगे। फलस्वरूप, हिन्दू पुरोहितों ने उन्हें हिन्दू-धर्म के सरसक के रूप में, क्षत्रियों के रूप में स्वीकार कर लिया और तब से वे लोग अपने को 'राजपूत' कहने लगे। इस प्रकार नये क्षत्रिय और राजपूत समानार्थक समझे जाने लगे और उत्तरी मैदानों में जिस माग में मूलतः वे आकर बने उसका नाम 'राजपुताना' पड़ गया।

किन्तु कुछ ऐसे भी तर्कपूर्ण तथ्य हैं, जिनके आधार पर अन्य विद्वानों ने इस पूर्वोक्त मान्यता का खण्डन किया है। इस मान्यता के विरुद्ध प्रधान आपत्ति तो यह है कि वस्तुतः यदि भारत की सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति विदेशी है तो भारत

को प्राचीन क्षत्रिय जन्म क्या है ? क्या वह पूर्णतः लुप्त हो गयी ? अगर वह लुप्त हो गई तो कब और कैसे ? ये प्रश्न ऐसे हैं जो राजपूत वर्ग के विषय में विदेशी धारणा का खण्डन कर कुछ नया सर्वमान्य दृष्टिसंगत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । इस भारतीय मन के प्रतिपादकों एवं समर्थकों में राजपूताने के प्रामाणिक इतिहास-लेखक पण्डित गीरोशकर हीराचन्द्र ओझा का नाम उल्लेखनीय है । राजपूत का वास्तविक इतिहास इस प्रकार है . —

‘राजपूत’ शब्द संस्कृत के ‘राजपुत्र’ का ह्रस्वान्त है । प्राचीनकाल में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किसी जाति-विशेष के होकर राजकुमारों अथवा राज-वर्णियों के लिये होता था । चूंकि प्राचीन भारत में अधिकांश क्षत्रिय राजाओं का ही शासन था, अतः सामान्य रूप से राजपुत्र शब्द क्षत्रिय राजकुमारों का ही सूचक था । कौटिल्य के अरंशाम्भ के पूर्व से ही राजकुमारों के लिये ‘राजपुत्र’ ‘महाराजपुत्र’ आदि शब्दों का प्रचलन था । वास्तव में राजपूत शब्द का जातिविशेष अथवा वर्णविशेष के अर्थ में प्रयोग मुसलमानों के आगम में प्रविष्ट होने के बाद से हुआ । मुसलमानों के लगातार आक्रमण ने क्षत्रियों के राज्य समाप्तनाश हो गये । जो कुछ बचे भी थे उन्होंने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली और उनके सामन्त बन गये अथवा साधारण प्रजा की कौटि में आ मिले । राजवंश के होने के कारण भारतीय हिन्दू जनता उन्हें ‘राजपुत्र’ ही कहती थी । किन्तु मुसलमानों की ‘राजपुत्र’ उच्चारण में कठिनाई होती थी । अतः उन्हें वे सरलतापूर्वक ‘राजपूत’ ही कहने लगे । तभी से यह शब्द जातिविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ । संक्षेप में इस शब्द के इतिहास का यही रूप है ।

प्राचीन अनुभूतियों के अनुसार भी राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की मूलान है जो अपने का चन्द्रवशी तथा सूर्यवशी मानते हैं । भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यों की मूलतः दो प्रमुख शाखाएँ थी, जो क्रम से सूर्यवश तथा चन्द्रवश के नाम से विख्यात थी । बाद में एक तीसरी शाखा अग्निवशी भी हो गयी । इन्हीं तीन वंशों में आर्य जाति का मयावेश हो जाता था किन्तु राजनीतिक जीवन में क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता के कारण इन वंशों की परस्पर साधारणतः क्षत्रिय वर्णों के साथ म्यथित हो गयी और क्षत्रियों के विभिन्न वंश मूलतः इन्हीं तीन वंशों के नाम से विख्यात हुए । कालान्तर में परिवार-विशेष के नाम पर अथवा उसके मुख्य व्यक्तियों के नाम पर

वंशों की परम्परा चल पड़ी। हर्षवर्धन के बाद राजपूत शब्द से समझे जानेवाले राजवंशों का संबंध भी उन्हीं प्राचीन क्षत्रियवंशों से है। हर्षवर्धन के बाद उत्तर भारत की राजनीति में तथा मुसलमानों ने टक्कर लेनेवाले राजवंशों में निम्नलिखित वंश प्रमुख माने जाते हैं —

१—कन्नौज का गुज्रंर प्रतिहार वंश।

२—कन्नौज का महूदवार वंश।

३—बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश।

४—मालवा का परमार वंश, और

५—दिल्ली एवं अजमेर का चौहान वंश।

अभिलेख के विग्रहराज का सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंशों के चौहान वंश से है।

चौहान वंश — हम्मौर महाकाव्य तथा 'पृथिवीराज विजय' के अनुसार चौहान 'चाहमान' नामक व्यक्ति के वंशज थे, जिनकी उत्पत्ति सूर्य से हुई थी। किन्तु पारसियों के कथनानुसार चौहान अग्निकुल के थे और उनको उत्पत्ति 'आबू' पर्वत पर हुई थी। विद्वान् मान्यता चौहान को भी प्रतिहारों की भाँति अग्नि से युद्ध की गयी विदेगी जाति ही मानती है। किन्तु कुछ विद्वान् चौहान की अग्निकुलवाली मान्यता की ब्याख्या इस प्रकार करते हैं कि अन्य राजवंशों के साथ चौहानों ने भी यहाँ की अग्नि की साक्षी रखकर अरबों तथा तुर्कों के आक्रमण से देश की रक्षा करने की शपथ ली थी। अनएव आधुनिक इतिहासवेत्ता चौहानों को भी प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं। भारतीय इतिहास में चौहान वंश का बहूत ही महत्त्व है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शाकम्भरी अथवा साम्भर प्रदेश, जो जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर विद्यमान है, इनका प्रधान केन्द्र या स्थान था। इस वंश की भी कई शाखाएँ थीं। परन्तु शाकम्भरी शाखा सर्वाधिक प्रसिद्ध मानी गयी है। इस वंश की स्थापना वामुदेव ने की थी, परन्तु उसके समय का निश्चयीकरण नहीं किया जा सकता। गूबर द्वितीय ने दिल्ली के तोमर राजा को परास्त कर उसकी हत्या कर दी। विजय संवत् १०३० अर्थात् ९७३ ई० का हर्ष प्रस्ताव-लेख, चौहान वंश के इतिहास की प्रारम्भिक सीमा को गूबर प्रथम तक बताता है जब कि साहित्यिक ग्रन्थों में इन वंश की तानिका वामुदेव तक देयी जाती है। चौहानों और तोमरों के युद्ध में चौहानों का विजय भी मिली थी। दिल्ली का शासन गूबर उनके हाथों

में आ गया। वाक्यनि प्रथम तथा मिहिराज इस वंश के पराक्रमी राजा थे। विग्रह-राज द्वितीय के समय तक चौहान राज्य प्रतिहार-राज्य के प्रभाव से मुक्त हो गया। उसने नर्मदा नदी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा कर गुजरात के चालुक्य राजा मूलराज को पराजित किया। उसके बाद अजयराज ने मालवा के परमारवशी राजा के सेनापति को पराजित कर उज्जैन तक अपनी विजयपताका फहरायी। अजयराज ने अजमेर नगर की स्थापना की। चौहान अभिलेखों के अनुसार चौहानवशी गोविन्दराज द्वितीय, अजयराज तथा अर्णोराज ने मुसलमानों को पराजित किया था। चौहान वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ (वीसलदेव) हुआ। इनने मुसलमानों से संघर्ष जारी रखा और यमुना तथा सतलज नदियों के बीच का प्रदेश मुसलमानों से छीन लिया।

अभिलेख के अन्तिम श्लोक में—“अस्मानि करद व्यधापि हिम-बद्धिन्ध्यान्तरालं भुव ” इस उक्ति के द्वारा यह मालूम पड़ता है कि विग्रहराज ने हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच की सारी भूमि को अपने अधीन कर लिया था यद्यपि यह उक्ति अतिरिक्त प्रतीत होती है, फिर भी विज्ञोलिया (मेवाड़) में मिले एक लेख से उनका दिल्ली को जीतना सिद्ध होता है। डाक्टर आर० एस्० त्रिपाठी के अनुसार संभवतः विग्रहराज ने दिल्ली को गहड़वाल राजा विजयचन्द्र से छीना था। विग्रहराज बड़ा ही वीर, धीर और सकल सैन्यसञ्चालक था। इसके साथ ही वह स्वयं प्रतिभाशाली कवि, ललित कला का उपासक और साहित्यिकों का संरक्षक भी था। महाकवि सोमदेव ने वीसलदेव के चरितों का का चित्रण करने के लिये ‘ललित विग्रहराज’ की रचना की थी। इस प्रकार वह चौहानवंश का एक उन्माद्यक ही नहीं बल्कि उसके प्रभाव को विस्तृत करनेवाला उन्माही राजा था। इस वंश के अन्तिम राजा ‘पृथिवीराज’ का उल्हाह, देशप्रेम और वीरता भारतीय इतिहास में स्वर्णशरों में लिखी है, किन्तु आपसी मतभेद के कारण यवनों के हाथों इसके दुःख अवसान ने भी इतिहास के पृष्ठों को धूमिल-सा बना दिया है।

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

प्रश्नपत्राणि

(१)

यो वृत्त्यपंनुपास्यते मुरगुणं सिद्धंश्च सिद्धयपिभिः-

ध्वनिंकाप्रपरंविधेयविषयंमोक्षापिभिर्योगिभिः ।

भक्त्या तीव्रतपोधनंश्च मुनिभिः सापप्रसादसमे-

हेतुर्षो जगतः क्षयाम्बुदयसो, पापार् स वो मोस्करः ॥

अयं श्लोको यस्मान्छिलालेखादुद्धृतः स कस्य नृपते शासनकाले,
वस्मिद् प्रसङ्गे, कुत्र, केन कविना च रचित इति निरूपणीयम् ।

अम्मो नाम रिपुप्रियानयनयो प्रत्यपिदन्तान्तरे,

प्रत्यशाणि तृणानि, वैभवमिलत्काष्ठ ययस्तावकम् ।

मार्गो लोकाविहृद एव विजने शून्य मर्तो विद्विषा,

श्रीमद्विषहराज देव ! मयतः प्राप्ते प्रयाणोत्सुके ॥

पद्यमिदं व्याख्याय कोऽयं विप्रहराजः । न कदा कुत्र च बभूव ? अयं लेखकतेन
कदा कुत्र कुतश्चोल्लेखितः ?

(२)

(क) महारौलीलौहस्तम्भोत्कीर्णलेखस्य चन्द्रनृपते परिचयं प्रदाय पद्यमिदं
व्याख्येयम्—

यस्योद्भूतयतः प्रतीपमुरसा घनून् समेन्यागतान्,

बद्धेष्व्वाहवर्तनोऽप्रभिलसिता सद्गुणैः कीर्तिभुञ्जे ।

शीर्त्वा ससमुच्चानि येन समरे सिन्धोजिना बाह्विष्ठा,

यस्याऽद्याप्यधिवास्यते जननिधिर्वीरानिलैर्दक्षिणः ॥

(ख) यद्योपमंग. परिचयं देवकालनिर्देशपूर्वकं प्रदाय पद्यमिदं व्याख्याय-
ताम्—

स्निग्धस्यामाम्बुदाभे, स्पगितदिनशृङ्गो यज्वनामाङ्गुष्मे-

रम्भोमेध्वं मघोनाश्रयिषु विदयता गाडसम्पन्नसत्त्वाः ।

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

इत्यादिनां अरुभसहनादानचूनापुराण
राजन्त्या गन्ते भुजविजितनुवा नुरया दन दद्या ॥

(३)

दिलालखनामादृष्टुनपुग्स्वर व्याख्यायतामनोनिर्दिष्टलोकेषु द्वयम्— १०
दुष्पावनघ्ननरमण्डवनवाया नृम पर तिलकभुर्तमिद इमेण ॥
प्राचा नृपान् मृवृहत्तथ दन्तवाच सप्रायधा च वरान् प्रविधाय दन ।
नामापर जगति बान्तमदा दराप गज्रापिराजपमबर इयदूदम् ॥
प्रमङ्गु सर व्याख्यायतामन्तर कुत्रयथ म सख ष्टि च स्वर । १०

(४)

दिलालखनामादृष्टुनपुग्स्वर व्याख्यायतामनोनिर्दिष्टलोकेषु द्वयम्— १०

(क) क्षिणस्यव विमृज्य ग नरपतर्माथितस्वतरा,
मूर्त्ता वमजितावनी उवन कीर्त्या म्थिनस्य भित्ती ।
शान्तस्यव महावन हूतमुब्रो दम्य प्रताया महात्
अष्टाप्यमृजति प्रपायिर्त्तरपायलस्य यय भित्तिम् ॥

(ख) दृष्टुत्यामिरम्यसरिदृष्टुन चपलोमिणा समुपगूदम्
रहसि कुचादिनाम्ना प्रीतिरतिम्दा म्मराङ्गमिव ।

(ग) लालामन्दिरसारेषु भवतु स्वान्तेषु वामद्वेषु
यन्पान्तु न विप्रहृषितियते व्याप्योऽत्र वासुस्तव ।
यद्या वा पुरुषोत्तमस्य भवतो नास्त्वव वागानिद्य
श्रिमंथ्यापहृतश्रिय किमु मदान् डाड न निशपित ॥

(५)

दिलालखनामवृत्तिरेषुपूर्वक पद्यारम्भतरदिशद व्याख्यायतान्— १०

(क) कान्तो युवा रणदुर्दिनयान्वित्यथ, राज्ञापि मनुपमृती न मदे स्मदाष्टे ।
शृङ्गारमूर्त्तिरगमिमात्यनहृतीऽपि, स्वरा य शुभुमचाप इव द्विताय ॥

(ग) हिमवत इव गाङ्गमुत्तमप्र प्रवाह यद्यनृन इव रेवावारिरादि प्रयायान् ।
परमभिग्मनीय सुदिमनन्ववाया, यत उचित्तिगरिम्पस्त्रायत नैगमानाम् ॥

(६)

ऐतिहासिकविवरणमहित निम्नाङ्कित पद्यमक व्याख्ययम्— १०

मत्तमण्डनविष्णुनामिन्दुमस्तोऽन्तरात्परमदृष्टिद्वेषु
दुष्पावनघ्ननरमण्डवनवाया नृमे पर तिलकभुर्तमिद इमेण ॥

(७)

नीचनिदिष्टश्लोकी यञ्छिलालेखस्थो तन्नामसमयादिक निदिश्य सप्रसङ्गं
ब्रह्म्यायेताम्—

(क) प्राज्ञा मनोजवपव प्रथिनोर्ध्वंजा वशानुरूपचरितामरणास्तथाऽप्ये ।

मन्यवना प्रणयिनामुपकारदक्षा विश्रम्भपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च ॥

(ख) विव्रितविषयसङ्गर्धर्मशालंस्तथाऽर्च्यैः मृदुभिरधिकसत्त्वैर्लोहयात्राऽमरंश्च ।

स्वकुलतिलकभूतंमुंक्तगणैर्ददारंगणिकमभिविमाति थणिरैवं प्रकारैः ॥

अथवा—रुद्रदाम्न शिलालेखेन तच्छरित् वीदृश प्रतिमासिन भवतीति—

सक्षेपेण दशढादशपङ्क्तिभिर्विलिख्य निदिश्यताम् ।